मूल लेखक—

स्व० द्विजेन्द्रलाल राय।

सिंहल-विजय ।

[स्वर्गीय कविश्रेष्ठ द्विजेन्द्रलाल रायके बंगला ऐतिहासिक नाटकका अनुवाद ।]
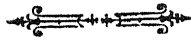
अनुवादकर्त्ता—

श्रीयुक्त बाबू रामचंद्र वर्मा ।

प्रकाशक,

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, बम्बई ।

माघ सं० १९७६ वि० ।

प्रथमावृत्ति ।] जनवरी १९२० । [मू० १=)

जिल्दसहितका १।) रु० ।

सिंहल-विजय ।

कुशीलव-गण ।

पुरुष ।

सिंहबाहु	बंगालके राजा ।
विजयसिंह	ज्येष्ठ राजपुत्र (पहली रानीके)
सुमित्र	कनिष्ठ राजपुत्र (दूसरी रानीके)
विजित	विजयके मित्र (राजपुत्र)
उरुवेल, अनुराध	विजयके साथी ।

मंत्री, ब्राह्मण, भैरव डकैत आदि ।

कालसेन	लंकाके नये राजा ।
जयसेन	कालसेनकी पहली स्त्रीका पुत्र ।
उत्पलवर्ण	लंकाका पुरोहित ।
विशालाक्ष	लंकाका सेनापति ।

विरूपाक्ष, तापस आदि ।

स्त्री ।

महारानी	सिंहबाहुकी दूसरी रानी ।
सुरमा	सिंहबाहुकी पहली रानीकी कन्या ।
लीला	विजयसिंहकी पत्नी ।
वसुमित्रा	लंकाकी रानी ।
कुवेणी	वसुमित्राकी कन्या ।
जुमेलिया	कुवेणीकी सखी ।

नर्तकी, परिचारिका आदि ।

वक्तव्य ।

आज हम अपने पाठकोंके समक्ष स्वर्गीय कविश्रेष्ठ द्विजेन्द्रलाल रायका यह ग्यारहवाँ नाटक उपस्थित कर रहे हैं। कविवरकी यह अन्तिम रचना है। इसका पुनरालोचन और संशोधन करते करते ही उन्होंने शरीरत्याग किया था। उस समय इसकी हस्तलिपिके पन्नें उनकी मृत्युशय्याके पास बिखरे हुए पड़े थे!

इसके केवल दो ही गीत * ग्रंथकर्ताने अपने हाथसे लिखे थे, शेष गीत उनके एक मित्रने उन्हींकी अन्य रचनाओंमेंसे चुनकर रख दिये हैं। ग्रन्थकर्त्ताकी मृत्युके लगभग १॥ वर्ष पश्चात् यह नाटक प्रकाशित हुआ था और रंगभूमिपर खेला गया था।

इस नाटकके पाँचवें अंकके विषयमें यह चर्चा उठी थी कि वह स्वयं द्विजेन्द्र-बाबूकी नहीं, किसी औरकी रचना है; परन्तु द्विजेन्द्रबाबूके सुपुत्र श्रीयुत बाबू दिलीपकुमार राय इस चर्चाको निर्मूल बतलाते हैं और कहते हैं कि "पंचम अंककी हस्तलिपि मेरे पास मौजूद है। अवश्य ही पितृदेव इस अङ्ककी पुनरालोचना करनेका समय नहीं पा सके, इस कारण यह अन्यान्य अंकोंके समान सुन्दर नहीं हो सका है।"

यह नाटक पहले तुकान्तहीन पद्योंमें लिखा गया था; परन्तु एक सहृदय मित्रकी यह सम्मति पाकर कि--"आपके गद्यमें जितना 'फोर्स' है, उतना पद्यमें नहीं है"--द्विजेन्द्र बाबूने इसे गद्यमें लिखना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इसके संशोधन और परिवर्तन करनेका कार्य समाप्त नहीं हो पाया और उन्हें परलोक-यात्रा कर देनी पड़ी। द्विजेन्द्र बाबू अपने अन्य नाटकोंके संशोधन और परिवर्तनमें जितना परिश्रम करते थे, इसके लिए भी यदि उन्हें उतना परिश्रम करनेका अवसर मिलता तो यह और भी अपूर्व हो जाता। फिर भी यह बात दृढतापूर्वक कही जा सकती है कि 'सिंहल-विजय' बंगला-साहित्यकी शोभा है। इसमें भी कविका स्वभावसिद्ध रचना-कौशल प्रकाशमान् है। इसमें भी जगह जगह नाटकोचित चौंका देनेवाली घटनाओंका समावेश है, कवित्त्वका उच्छ्वास है और इसके भी अनेक पात्र एक एक भावुक कवि हैं।

---

* तृतीय अंकके पहले दृश्यका और चतुर्थ अंकके द्वितीय दृश्यका गीत।

द्विजेन्द्रबाबूने अपने भीष्मनाटकमें विमाताके चरित्रको बहुत ही कलुषित-रूपमें चित्रित किया है और इसमें उन्होंने एक ही साथ दो केकेयी लाकर खड़ी कर दी हैं। साथ ही दशरथके समान स्त्रैण पिताके आदर्शसे सन्तुष्ट न होकर हेम्लेटके Claudius चरित्रके समान एक विपिताकी भी सृष्टि की है।

द्विजेन्द्रबाबू रूसके सुप्रसिद्ध महात्मा टाल्स्टायके सार्वभौमिक भ्रातृभाव या विश्वप्रेम सिद्धान्तके बड़े ही भक्त थे। अपने मेवाड़-पतनमें उन्होंने इस सिद्धान्तको बहुत ही स्पष्टतासे व्यक्त किया है। सिंहल-विजय भी इस विश्वप्रेमकी भावनासे खाली नहीं है। चतुर्थ अंकान्तर्गत द्वितीय दृश्यके कथोपकथनमें इसका बहुत कुछ आभास पाया जाता है। कहते हैं कि द्विजेन्द्रबाबूका जीवन-सूत्र इसी दृश्यका परिशोधन करते करते छिन्न हुआ था।

सिंहल-विजय ऐतिहासिक नाटक है। बंगालके इतिहाससे पता चलता है कि प्राचीन कालमें बंगालके एक कुमारने–जिनका नाम विजयसिंह था–सिंहल या लङ्काको जीता था और वहाँ बौद्धधर्मका प्रचार किया था। इसी आख्यान-वस्तुका अवलम्बन करके यह नाटक लिखा गया है। यद्यपि इसका अधिकांश कल्पित है–कविकी प्रतिभाने ही इसमें तरह तरहके रंग भरे हैं; फिर भी इसका कथानक भारतवासियों विशेषतः बंगालियोंके अभिमान और गौरवकी चीज है और इस कारण इसका अभिनय जनसाधारणको बहुत ही रुचिकर होता है।

इस नाटकके गीतोंका अनुवाद * हिन्दीके सुकवि श्रीयुक्त पं० रामचरित उपाध्यायने कर देनेकी कृपा की है, इसके लिए हम उनके बहुत ही कृतज्ञ हैं। उपाध्यायजीने मूलके भावोंकी रक्षा करनेका यथेष्ट प्रयत्न किया है और इसमें उन्हें अच्छी सफलता हुई है।

अपना वक्तव्य समाप्त करनेके पहले हम द्विजेन्द्रबाबूके सुपुत्र श्रीयुत बाबू दिलीपकुमार रायके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हैं, जिनकी उदारता और कृपासे हम इस अपूर्व ग्रन्थावलीको प्रकाशित कर रहे हैं।

माघ कृष्णा ५
सं० १९७६ वि०।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

---

* चतुर्थ अंकके अष्टम दृश्यमें जो गीत और पंचम अंकके अन्तमें जो छप्पय छपा है, वह बाबू रामचन्द्र वर्माका ही बनाया हुआ है। उक्त स्थानोंके लिए पं० रामचरितजीने जो रचना की थी, वह परिशिष्टमें प्रकाशित की गई है।

सिंहल-विजय ।

प्रथम अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—बंगालके महाराज सिंहबाहुका न्यायालय ।

समय—दोपहर ।

[महाराज सिंहबाहु सिंहासनपर बैठे हैं । सामने एक ओर विजयसिंह और दूसरी ओर अमात्य लोग, कर्म्मचारी, एक ब्राह्मण और एक ब्राह्मण-कन्या खड़ी है ।]

सिंहबाहु—पण्डितजी, इस खुले दरबारमें आप मेरे पुत्र विजयके विरुद्ध अपना अभियोग उपस्थित कीजिए ।

ब्राह्मण—महाराज, न्यायपूर्वक विचार कीजिएगा ।

सिंह०—पंडितजी, आप न्यायपूर्वक विचारकी बात क्यों कहते हैं ? मंत्री, क्या यह बात सारा संसार नहीं जानता कि बंगालके महाराज सिंहबाहु विचारमें पात्रापात्रका भेद नहीं करते ? वे बंगाली और विदेशी सबको एकदृष्टिसे देखते हैं ।

मंत्री—क्यों पण्डितजी, क्या आप यह बात नहीं जानते कि महाराजका विचार ईश्वरके विधानकी तरह निरपेक्ष होता है । स्वर्गमें इन्द्रदेव और मर्त्यमें महाराज सिंहबाहु एक दूसरेको देखते हैं और परस्पर ईर्ष्या करते हैं। ब्रह्माण्ड उनके पैरोंपर पड़ा हुआ है ।

सिंह०—पंडितजी, आप निर्भय होकर राजकुमारके विरुद्ध अभियोग उपस्थित कीजिए। हमारे लिये वह अभियोग चाहे कितना ही अप्रिय क्यों न हो पर आप जरा भी न हिचकिए ।

ब्राह्मण—महाराजके न्यायपूर्ण विचारका यश सारे संसारमें शुभ्र कौमुदीकी तरह फैला हुआ है। आज उसी न्यायपूर्ण विचारकी परीक्षा होगी । महाराज—

सिंह०—हाँ हाँ पण्डितजी, कहे चलिए। आप रुक क्यों गए ? डरिए नहीं, कहे चलिए ।

ब्राह्मण—महाराज, आपके बड़े लड़के विजयसिंह—

सिंह०—हाँ हाँ कहिए ।

ब्रा०—महाराज, यह बंगदेश बहुत ही हराभरा, धनधान्यपूर्ण, शान्तिमय और समृद्ध देश है । यह सुखका आवास और शान्तिका लीलास्थल है । और महाराजका दृढ़ कठोर शासन उसे अपनी गोदमें रखकर उसकी रक्षा करता है । किन्तु—

सिंह०—किन्तु क्या ?

मंत्री—पण्डितजी, यह किन्तु क्या? महाराजके इस शासनमें 'किन्तु' 'परन्तु' के लिये स्थान नहीं है ।

ब्रा०—विजयसिंह और उनके साथियोंके अत्याचारके कारण अब हम लोगोंके लिये इस राज्यमें रहना असम्भव हो गया है। खुले आम राजपथपर चलनेवालोंकी सम्पत्ति लूटी जाती है, बेचारे गृहस्थोंके घरोंमें प्रवेश करके कुलांगनाओंको कलंकित किया जाता है। अब ये सब

अत्याचार असह्य हो गए हैं। इसीलिये आज विवश होकर मैं महाराजके पास आया हूँ।

मंत्री—पंडितजी, आप जानते हैं कि यह भारी अभियोग आप किसके विरुद्ध उपस्थित कर रहे हैं ?

ब्रा०—हाँ, जानता हूँ। यह अभियोग युवराज विजयसिंहके विरुद्ध है। लेकिन इसके लिये आपने ही मुझे अभी अभय-वचन दिया है।

मंत्री—यदि अभियोग सत्य न हुआ तो—पंडितजी, आप जानते हैं कि बंगालके राजकुमारके विरुद्ध मिथ्या अभियोग उपस्थित करनेवालेके लिये क्या दंड है ?

ब्रा०—हाँ, जानता हूँ—प्राणदण्ड।

मंत्री—यह भी जानते हैं कि किस प्रकारका प्राणदण्ड ?

ब्रा०—हाँ जानता हूँ। शरीर कुत्तोंसे नोचवाया जाता है।

मंत्री—लेकिन पण्डितजी, इतना होनेपर भी आप निर्भय होकर अभियोग उपस्थित करनेका साहस करते हैं ?

ब्रा०—आपने ही तो अभय-वचन दिया है।

मंत्री—अवश्य—यदि अभियोग सत्य हो तो।

सिंह०—पण्डितजी, युवराजके विरुद्ध इस अभियोगका कोई प्रमाण भी है ?

ब्रा०—हाँ महाराज, है। युवराज जबरदस्ती मेरे घरमें घुस गए, उन्होंने मेरी सम्पत्ति लूटी और मेरी युवती कन्याको कलंकित किया।

मंत्री—अवश्य ही, यह बड़ा भारी अपराध है। इसका पूरा पूरा विचार होना चाहिए।

सिंह०—वह कन्या कहाँ है ?

ब्रा०—वह कन्या यहीं है। हे ईश्वर ! कन्याका यह कलंक मुझे आज लोगोंके सामने प्रकट करना पड़ा ! लेकिन जब बंगालके घर घरमें

यही हाल हो तब—मैं क्या कहूँ महाराज—लज्जा और अपमानसे मेरा सिर झुका जाता है। अब सोचता हूँ कि इस बातको छिपा रखना ही अच्छा था।

सिंह०—विजयसिंह ! तुम्हें भी कुछ कहना है ?

विजय०—कुछ नहीं।

सिंह०—क्या यह बात ठीक है ?

विजय०—नहीं, झूठ है।

मंत्री—युवराज, आप सच बोलें। महाराज अवश्य ही चंचलमति युवराजके इस उच्छृंखल आचरणकी मार्जना करेंगे।

सिंह०—विजयसिंह ! हम फिर पूछते हैं, क्या यह बात ठीक है ?

विजय०—महाराज ! मेरे मुँहकी तरफ देखिए, मैं क्या झूठा मालूम होता हूँ ?

सिंह०—बहुतसे पाखंडी जो बड़े धर्म्मात्मा जान पड़ते हैं—हत्या तक करते हैं।

विजय०—महाराजने बहुत ठीक कहा।

सिंह०—क्यों विजय, हमने क्या ठीक कहा ?

विजय०—यही कि बहुतसे लोग धर्म्मात्माका भेस बनाकर हत्या तक करते हैं। और बहुतसे लोग न्यायपूर्ण विचारके नामपर अपनी ईर्ष्यावृत्ति भी चरितार्थ करते हैं।

सिंह०—विजय, तुम्हारा गूढ़ अभिप्राय क्या है ?

विजय०—महाराज, पहले आप बतलाइए कि आपका गूढ़ विचार क्या है ?

सिंह०—हमारा गूढ़ विचार ?

विजय०—हाँ महाराज ! किस मतलबसे इस सिंहासनपर आज आप विचार करने बैठे हैं ? यदि आप मुझे कारागारमें ही भेजना चाहते हों तो भेज दीजिए। यह विचारका स्वाँग रचनेकी क्या जरूरत है ?

सिंह०—विचारका स्वाँग ! विजय, यह तुम क्या कह रहे हो ?

विजय०—क्यों ? इसका समझना तो बहुत कठिन नहीं है—यह तो बहुत ही सरल और स्वाभाविक है ।

सिंह०—तुम क्या कहना चाहते हो ?

विजय०—महाराज मैं कुछ भी कहना नहीं चाहता । मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह यदि मैं इस स्थानपर कह डालूँ तो राज्यमें जितने पिता हैं वे सब लज्जासे मुँह फेर लेंगे, पुत्र भयसे पीले पड़ जायँगे और यह कृत्रिम विचारालय बहुत ही छोटा दिखलाई पड़ने लगेगा। महाराज ! और वह बात सुनकर सारा जगत् ठठाकर हँस पड़ेगा ।

सिंह०—विजयसिंह, तुम यह क्या कह रहे हो ?

विजय०—हाँ महाराज, सारा जगत् ठठाकर हँस पड़ेगा और उस मिलित हास्यके ऊँचे शोर-गुलमें जो व्यंगदृष्टि मिली होगी उसके नीचे महाराज बहुत ही छोटे दिखलाई पड़ेंगे । और महाराज—लेकिन नहीं । मैं वह बात नहीं कहूँगा । पिता चाहे पुत्रकी मर्यादा न रक्खें परन्तु पुत्र अपने पिताकी मर्य्यादा अवश्य रक्खेगा । मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ।

सिंह०—विजयसिंह, क्या तुम पागल हो गए हो ?

विजय०—नहीं, मैं पागल नहीं हुआ हूँ । मुझसे अपराध हुआ है, मुझे प्राणदण्डकी आज्ञा हो । पिताकी सांसारिक आपत्ति दूर हो ।

सिंह०—पुत्र यदि पिताके लिये आपत्ति-स्वरूप हो जाय तो इसमें दोष पिताका है या पुत्रका ?

विजय०—पुत्रका । दोष पुत्रका ही है । और विशेषतः ऐसी अवस्थामें जब कि उस पुत्रकी माता न हो, और उसके स्थानपर अन्तःपुरमें विमाता आगई हो । उसमें दोष पुत्रका ही है । सौ बार—

सिंह०—विजयसिंह ! यह ब्राह्मण—

विजय०—महाराज, मुझे बचाइए ! पिताके दुर्बल अविचारके गूढ़ तत्त्वको प्रकट करनेके लिये मुझे उत्तेजित न कीजिए । नहीं तो पीछे बहुत पछताना पड़ेगा ।

सिंह०—किसे पछताना पड़ेगा ?

विजय०—दोनोंको । मंत्री महाशय ! आप ज्ञानी, स्थविर और सरल प्रकृति हैं । आपने मुझे पाल-पोसकर मनुष्य बनाया है । आप भी इस अभागे माता-पिता-हीन बालकके विरुद्ध षड्यंत्रमें मिल गए ? धिक् !

सिंह०—विजय, तुम पितृहीन कैसे हुए ? मैं तुम्हारा पिता तो मौजूद हूँ ।

विजय०—जो पिता अपने पुत्रकी विमाताको अपने घरमें लाकर अपना मनुष्यत्व उसके हाथ बेच देता है, वह उस दिनसे फिर उस पुत्रका पिता नहीं रह जाता । पिता—महाराज, आप मुझे छेड़ें नहीं ।

सिंह०—विजयसिंह, तुम्हारा यह उद्दंडतापूर्ण आचरण देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ ।

विजय०—महाराज, यह आप क्या कहते हैं ? पिताकी आँखोंमें पुत्रके लिये आँसुओंकी धारा देख रहा हूँ । नहीं महाराज—आप जो पाप कर रहे हैं वह प्रकट रूपसे करें । यह स्नेहका ढोंग छोड़ दीजिए और आँखें लाल करके क्रोधसे कहिए—"पुत्र, यह तेरा बड़ा भारी अपराध है कि तू मातृविहीन है ।" मैं अपना अपराध स्वीकार कर लूँगा और पिताका प्राणदंड शिरोधार्य्य कर लूँगा । किन्तु—(धीमे स्वरसे) यह धोखेबाज़ी यह पाखण्ड—ओह, असह्य है !

मंत्री—क्या कहा युवराज ? महाराजकी धोखेबाज़ी !

विजय०—मंत्री महाशय, मैंने यह बात महाराजको सुनानेके लिये नहीं कही थी । लेकिन आपने वह बात महाराजके कानोंतक पहुँचा दी,

यह अच्छा ही किया । महाराज, मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ । दंड दीजिए । यह बीभत्स और कुत्सित दृश्य देखनेसे मुझे छुट्टी दीजिए ।

सिंह०—अपराध स्वीकार करते हो ?

विजय०—हाँ करता हूँ ।

सिंह०—सिपाहियो ! युवराजको कारागारमें बन्द करो ।

विजय०— महाराजकी जय हो ।

दूसरा दृश्य ।

स्थान—राज-अन्तःपुर । **समय**—संध्या ।

[राजकन्या सुरमा और विजयसिंहकी पत्नी लीला बातचीत करती हुई आती हैं ।]

लीला—मुझे इस बातका किसी तरह विश्वास नहीं हो सकता कि मेरे स्वामी ऐसा काम कर सकते हैं ।

सुरमा—कैसा काम लीला ?

लीला—स्त्रीके ऊपर अत्याचार । वे राज्यमें अशान्ति फैला सकते हैं, दुष्टोंके ऊपर अत्याचार कर सकते हैं, लेकिन दुर्बलपर कभी हाथ नहीं छोड़ सकते ।

सुरमा—यह तुम किस तरह जानती हो ?

लीला—मैं अच्छी तरह समझती हूँ ।

सुरमा—अभीतक तो उन्होंने तुम्हारा मुँह भी नहीं देखा । तुम्हारा और उनका तो वही एक दिन सामना हुआ था ।

लीला—हाँ वही एक दिन सामना हुआ था—वही शुभदृष्टि ।

सुरमा—तब तुमने यह कैसे जाना कि वे ऐसा काम नहीं कर सकते ?

लीला—उसी एक शुभदृष्टिसे जान लिया था।

सुरमा—बस एक ही बार देखकर ?

लीला—हाँ एक बार देखकर। एक ही बार देखकर मैंने अपने स्वामीको पहचान लिया था।

सुरमा—पहचान लिया था ?

लीला—हाँ पहचान लिया था। तुम्हें आश्चर्य क्यों होता है ? क्या तुम यह समझती हो कि वही हम लोगोंकी पहली भेंट थी ?

सुरमा—तो क्या उससे और पहले भी कभी भेंट हुई थी ?

लीला—हाँ हुई थी।

सुरमा—कब ?

लीला—पूर्वजन्ममें।

सुरमा—लीला, क्या तुम पागल हो गई हो ? पूर्वजन्ममें वे तुम्हारे कौन थे ?

लीला—वे मेरे स्वामी थे।

सुरमा—तुमने तो मुझे अवाक् कर दिया।

लीला—यदि यह बात न होती तो उन्हें देखते ही मैं यह कैसे समझ जाती कि वे मेरे ही हैं, और किसीके नहीं। वह प्रशस्त ललाट, वह उज्ज्वल श्यामवर्ण, वह चौड़ी छाती, वह गम्भीर दृष्टि। भला इन सबके नीचे कहीं क्षुद्र हृदय छुपा रह सकता है ? प्रकृति अपना निवासस्थान आप ही ढूँढ़ लेती है।

सुरमा—बापरे, इतना खिंचाव ! पर फिर भी उन्होंने दोबारा तुम्हारी ओर नहीं देखा ?

लीला—यह उनका सौभाग्य है।

सुरमा—सौभाग्य ?

लीला—यदि वे एक बार इस तरफ देख लें तो क्या फिर वे किसी

और तरफ देख सकते हैं? केवल इन दोनों आँखोंकी तरफ देखो, फिर तुम्हें और कुछ देखनेकी आवश्यकता ही न रह जायगी। जल्दी यह समझना कठिन है कि ये दोनों आँखें क्या हैं–मीन हैं, या खंजन हैं, या हरिनी हैं। और फिर यह नाक। ऐसी नाक कहीं देखी है? और हँसी (हँसकर)—आह मैं मर गई!

सुरमा—वाह, रूपका इतना गुमान!

लीला—यह तो हुआ रूपका गुमान, और यदि गुणका गुमान करूँ तो तुम्हें मालूम हो जाय कि बात क्या है!

सुरमा—जरा गुणके गुमानका भी नमूना देखें।

लीला—हाँ हाँ देखो। पहले तो विद्या—मैं अनायास ही तुम्हें सब कुछ सिखा सकती हूँ।

सुरमा—हाँ विद्या है, यह तो मैं मानती हूँ।

लीला—मानना ही पड़ेगा। और फिर इसके बाद गाना–(स्वर ठीक करके गाती है।)

ठुमरी।

मेरी प्यारी वीणे, ऐ प्यारे मम गान।
कोमल स्वरसे व्यथा निकल कर, व्याकुल करती प्राण ॥ मेरी० ॥
एकी कथा सभी तारोंमें, एकी दुख सौ तान।
मिला निराशामें कायरपन, औ हताश–अपमान ॥ मेरी० ॥
जाग सके तो जग जा वीणे, और उच्च कर तान।
प्राण कँपाती मैं गाऊँगी–नये गीत, सच मान ॥ मेरी० ॥
तेरे सुरसे गला मिलाकर; क्रन्दन करूँ महान।
नेत्रोंके जल मिल कर होवे, मन-दुखका अवसान ॥ मेरी० ॥
जाग सके तो जग कर बज उठ, ऊँचे शब्द-विधान।
नूतन स्वर गाकर, करना है मेरे साथ मिलान ॥ मेरी० ॥

गलेकी ऐसी आवाज और कभी सुनी है ? जैसे कोकिल या वीणाकी आवाज हो । और साथ ही साथ दही खानेका सा शब्द ! इस सुरमें यदि एक बार पुकारूँ—' नाथ ' तो न जाने क्या हो जाय !

सुरमा—तुम्हें इतने दिनोंमें भी मैं न पहचान सकी ।

लीला—क्यों ?

सुरमा—भइया पर तो इतनी विपत्ति आई है और तुम गाने लग गईं !

लीला—उन्हींके लिये तो मैंने गाया है । नहीं तो इस समय गानेका और काम ही क्या था ।

सुरमा—तुम्हें कुछ रंज नहीं होता ?

लीला—नहीं । मैं जिसकी स्त्री हूँ उसपर कभी विपत्ति आ सकती है ? मैं जानती हूँ कि जहाँ मैं उनके पास रहूँ वहाँ उनपर कोई विपत्ति नहीं आ सकती । अपनी शुभेच्छाके कवचसे मैंने उन्हें घेर रक्खा है, उनपर कोई विपत्ति नहीं आ सकती ।

सुरमा—वे तो कारागारमें बन्द हैं !

लीला—छूट जायँगे ।

सुरमा—किस तरह ?

लीला—यह तो नहीं जानती कि किस तरह, पर वे छूट अवश्य जायँगे । उन्हें कोई पकड़कर नहीं रख सकता ।

सुरमा—क्या कहती हो ?

लीला—मैं जानती हूँ ।

सुरमा—मुँहपर हँसी और आँखोंमें आँसू ! मेरी समझमें अब भी नहीं आता कि तुम्हारी कौन बात ठीक और कौन दिल्लगी है ।

लीला—उन्हें लोगोंने कारागारमें क्यों बन्द कर रक्खा है ? उनका कोई अपराध नहीं है । और महाराज भी तो उन्हें इतना चाहते हैं । आजतक कभी यह सुना भी नहीं था कि पुत्रको पिता इतना चाहते हैं ।

सुरमा—तुम जानती हो कि मेरी समझमें क्या आता है ?

लीला—क्या ?

सुरमा—(धीरेसे) मेरी समझमें यह सब विमाताका षड्यंत्र है ।

लीला—क्यों उन्होंने तो माताका कोई अपराध नहीं किया ।

सुरमा—विमाताके सामने पुत्र और कन्या सभी आजन्म अपराधी रहते हैं—उसमें अपराध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती बहिन ।

लीला—(सहसा) तुम उन्हें बचाओगी ?

सुरमा—किस तरह ?

लीला—तुम जानती हो वे कि किसतरह बच सकते हैं ।

सुरमा—मैं कुछ भी नहीं जानती । मैं तो केवल यही समझती हूँ कि यह सब विमाताकी ही कृपा है । भइयाका कोई अपराध नहीं है ।

लीला—मैं जानती हूँ कि इसमें उनका कोई अपराध नहीं है । पर हाँ, इस षड्यंत्रसे तुम उन्हें बचा सकती हो ।

सुरमा—लो देखो, माँ आ रही हैं । चलो उधर चलें ।

(दोनों जाती हैं ।)

[बात करते हुए रानी और मंत्रीका प्रवेश ।]

रानी—मंत्री ! इतने थोड़ेमें छोड़ देना अच्छा नहीं हुआ । कारागार तो स्याहीका दाग है—धोते ही छूट जायगा । महाराजका मिजाज ज्योंही ठंढा पड़ेगा त्योंही इस कारागारका अन्त हो जायगा । मंत्री ! इतने थोड़ेमें छोड़ देना अच्छा नहीं हुआ ।

मंत्री—नहीं तो फिर आपको और क्या आशा थी ?

रानी—मुझे और क्या आशा थी ? मुझे तो आशा थी कि युवराजको प्राणदण्ड मिलेगा ।

मंत्री—प्राणदण्ड !

रानी—क्यों, सिहिर क्यों उठे ?

मंत्री—पिता अपने पुत्रको प्राणदण्ड देंगे ?

रानी—मंत्री ! तुम तो मानो आकाशसे गिर पड़े !

मंत्री—क्या आपने यहाँतक सोचा था ?

रानी—इसमें आश्चर्य्य ही क्या है ?

मंत्री—राज्यसे वंचित करके कारागारमें भेजकर भी आपकी तृप्ति नहीं हुई ?

रानी—नहीं । महाराज क्या सोचते हैं ?

मंत्री—कभी वे स्नेहसे अधीर हो जाते हैं, कभी क्रोधसे अन्धे हो जाते हैं और कभी—

रानी—तो फिर स्नेहको उमड़ते कितनी देर लगती है ? यह क्रोध तो बादलकी गरज है । क्षण भरमें इससे मीठे जलकी धारा बरसने लगेगी । समझे ?

मंत्री—हाँ, समझ गया ।

रानी—महाराजने उसे कारागारमें भेजकर बुरा नहीं किया । बहुतसा काम हो चुका है । अब आगे—

मंत्री—अब आगे !

रानी—बाकी थोड़ासा काम तुम्हें करना होगा ।

मंत्री—मुझे क्या करना होगा ?

रानी—तुम खुद नहीं समझ सकते ? ऐसा एक कुछ, जो अन्धकार—भारी अन्धकार हो । जिस अन्धकारको हटाकर मनुष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता—वही अन्धकार ।

मंत्री—अन्धकार !

रानी—अब भी नहीं समझे ? जहाँ समस्त प्रतिहिंसाओंका, समस्त विनीत प्रार्थनाओंका, समस्त विवेचनाओंका अन्त हो जाता है । जो फिर हिलता डुलता नहीं, आँखें बन्द नहीं करता, हँसता नहीं, रोता नहीं ।

मंत्री—आप जरा और स्पष्ट करके कहें।

रानी—स्पष्ट करके कहूँ ? यह नहीं हो सकता। वह काम तो हो सकता है पर वह बात नहीं कही जा सकती। जब वह बात कहने लगो तो मानों कोई आकर गला दबाने लगता है। पर वह है बहुत ही सहज। उस कामको यदि करने लगो तो हाथ काँपता है, पर करते समय पीछे नहीं हटा जाता। वह बहुत ही सहज भी है और बहुत ही भयंकर भी। अब भी नहीं समझे ! तुम पुरुष हो !

मंत्री—पुरुषके बापकी भी सामर्थ्य नहीं कि वह स्त्रीके मनकी बात समझे।

रानी—फिर भी तुम लोग राज्य चलाते हो, मंत्रणा देते हो, कानून बनाते हो ! आश्चर्य है ! अच्छा सुनो, अब स्पष्ट करके कहती हूँ। राजकुमारको कारागारमें (चारों ओर देखकर) रातके समय—बस (छुरी मारनेका इशारा करती है)।

मंत्री—(आश्चर्य्यसे) हत्या !!!

रानी—हैं ! चिल्लाते क्यों हो ?

मंत्री—(धीरेसे) हत्या !!!

रानी—खूब कहा ! गला रुका नहीं ? तुम्हींसे यह हो सकेगा। पुरुषसे जो हो सकता है वह स्त्रीसे नहीं हो सकता। स्त्री शरबतमें विष मिला सकती है, लेकिन उसे प्यासेके मुँहसे नहीं लगा सकती। वह बलिका मंत्र बतला सकती है परन्तु अपने हाथसे बलि नहीं दे सकती। हाँ, तुमसे ही हो सकेगा।

मंत्री—नहीं, महाराणी ! मुझसे यह न हो सकेगा। मैंने आपके सरल दयालु, उदार राजकुमारको षड्यंत्र रचकर कारागारमें भेज दिया है। लेकिन इससे अधिक मुझसे नहीं हो सकता। मुझे इस कामसे छुट्टी दीजिए।

रानी—नहीं, नहीं, भला यह भी कहीं हो सकता है ? तुम्हींको यह काम करना पड़ेगा ।

मंत्री—नहीं, मुझसे न होगा ।

रानी—याद रक्खो—स्त्री स्वयं ही मृदु, लज्जाशीला और अन्तःपुरचारिणी होती है । पुरुष जो कुछ कहता है वही किये जाती है, कुछ भी नहीं कहती; उसका प्रतिवाद नहीं करती, आँख उठाकर देखती भी नहीं । लेकिन वही स्त्री जब अपना फन उठाती है, तब याद रक्खो वह बड़ी ही भयंकर हो जाती है। तुम्हें मैंने अपना गूढ़ अभिप्राय बतला दिया है । मैंने तुम्हें इस मंत्रणामें मिलाया है । यदि राजकुमार बच गया तो तुम मरोगे । मेरी हिंसाका बाण कदापि व्यर्थ नहीं जायगा । सावधान ! जब इतनी दूर बढ़ आए तब थोड़ी दूरके लिये क्यों छोड़ते हो ? और इसके बाद फिर राज्यके तुम्हीं कर्त्ता-धर्त्ता हो जाओगे—यह समझ रखना ।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) नहीं नहीं श्रीमती ! मैं दोहाई देता हूँ । आप मुझे इस महापातकमें लिप्त न करें ।

रानी—लड़कोंकी तरह रोनेसे छुटकारा नहीं होगा । तुम्हींको यह काम करना पड़ेगा । सामने राज्य है और पीछे सर्वनाश । दोमेंसे एक चुन लो ।

मंत्री—राजकुमारकी हत्या करनी होगी ?

रानी—हाँ, करनी होगी ।

मंत्री—किस तरह ?

रानी—यह भी बतलाना होगा ? पीछेसे—(छुरी मारनेका इशारा करती है ।)

मंत्री—नहीं श्रीमती ! मुझसे यह न हो सकेगा । यह बहुत ही भीषण काम है ! उनके उस यौवनपूर्ण, परिचित, बलिष्ठ अंगसे जो रक्त बहेगा उसे देखना पड़ेगा ? मुझसे यह न हो सकेगा ।

रानी—तुम इतने दुर्बल हो ?

मंत्री—आप और कोई ऐसा उपाय बतलाएँ जो--जो—जो मुझसे —हो सके ।

रानी—तुम नहीं जानते ?

मंत्री—जानता हूँ ।

रानी—क्या है ? बतलाओ ?

मंत्री—बतला नहीं सकता ।

रानी—अच्छा मत बतलाओ । पर यह तो बतलाओ कि वह तुमसे हो सकेगा ।

मंत्री—हाँ, शायद हो सकेगा ।

रानी—शायद नहीं, ठीक ठीक बतलाओ । हो सकेगा ?

मंत्री—हाँ, हो सकेगा ।

रानी—मनको दृढ़ करो । कलेजेपर हाथ रखकर कहो, हो सकेगा ?

मंत्री—हाँ हो सकेगा ।

रानी—शपथ खाते हो ?

मंत्री—हाँ, शपथ खाता हूँ ।

रानी—कब ?

मंत्री—आज—नहीं--कल—नहीं--एक सप्ताहका समय दीजिए

रानी—मंत्री ! समय बड़ा ही विश्वासघातक होता है ।

मंत्री—विवेचना करनेके लिये ।

रानी—विवेचना मनुष्यको भीरु बनाती है । मामलेको ठंढा नहीं होने देना चाहिए ।

मंत्री—तो यह काम कब करना होगा ?

रानी—आज ही रातको ।

मंत्री—(कुछ इधर उधर करके) बहुत अच्छा । (जाता है ।)

रानी—विजयको समाप्त करनेके उपरान्त--फिर—यह कौन ? कौन ?

[सुरमा आती है ।]

सुरमा—मैं हूँ, सुरमा ।

रानी—तुम सुरमा ? इतनी देरतक कहाँ थीं ? यह क्या ! एक-टकसे मेरी ओर देख रही हो ! कहाँ थीं ?

सुरमा—महलमें ही थी ।

रानी—कहाँ ?

सुरमा—अन्तःपुरमें ही ।

रानी—कुछ सुना ?

सुरमा—हाँ सुना है ।

रानी—क्या सुना ?

सुरमा—भइयाके लिये प्राणदण्डकी आज्ञा हुई है ।

रानी—कौन कहता है ?

सुरमा—तुम्हींने तो कहा है !

रानी—कहाँ ? कब ?

सुरमा—माँ ! क्या विमाताओंको प्रेम नहीं होता ? स्त्रियाँ स्नेहमयी होती हैं–पर क्या यदि किसी स्त्रीको अपने ही गर्भसे उत्पन्न सन्तान न हो, तो क्या उसे प्रेम नहीं होता ?

रानी—कौन कहता है ?

सुरमा—माँ, मुझपर और भइयापर तुम्हारा इतना अधिक क्रोध क्यों है ? हम लोगोंने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया ।

रानी—कौन कहता है कि तुम लोगोंने अपराध किया है ?

सुरमा—कलकीसी बात जान पड़ती है जब कि मेरी माँने पिताजीके हाथमें भइयाका और मेरा हाथ पकड़ाकर हँसते हुए मीठे स्वरसे कहा था—"इन लोगोंको देखिएगा, अबसे आप ही इन दोनोंकी माँ हैं।" पिताजी चुप हो रहे । माँने फिर कहा था—"बतलाइए, आप भी मेरी

ही तरह इन लोगोंका ध्यान रक्खेंगे ? आप इस प्रकार इनका ध्यान रखिएगा जिसमें इन्हें यह न मालूम होने पावे कि हमारी माँ नहीं है ।" पिताजीने धीरेसे कहा था—"हाँ, ध्यान रक्खूँगा ।" इसके बाद माँने एक लम्बा साँस खींचा, उनकी दोनों आँखोंसे दो बूँद आँसू निकल आए । इसके बाद—

रानी—सुरमा, तुम रोती क्यों हो ?

सुरमा—माँ, अब भी तुम पूछती हो कि मैं रोती क्यों हूँ ? जानती नहीं ? कभी तुम्हारी भी तो माँ थीं । तुम्हारी माँ भी तो किसी दिन मरी थीं । उस दिनकी बात याद है ?

रानी—कौन कहता है कि तुम्हारी माँ नहीं है ? एक माँ गई, दूसरी माँ आगई । देखो, मैं ही तुम्हारी माँ हूँ ।

सुरमा—हाँ हाँ, माँ, यही बात कहो । माँ, तुमने बहुत अच्छी बात सुनाई । फिर एक बार यही बात कहो । तुम जी भरके कहो, मैं जी भरके सुनूँ ।

रानी—सुरमा, जानती हो, महाराज कहाँ हैं ?

सुरमा—नहीं, नहीं, तुम फिर एक बार वही बात कहो कि—"मैं ही तुम्हारी माँ हूँ ।" कहो कि—"उसी माँकी तरह मैं तुम्हें कलेजेसे लगाकर रक्खूँगी । अमंगलकी छाया भी तुम तक नहीं पहुँचने पावेगी ।" कहो, फिरसे कहो । शायद कहते कहते तुम्हारे हृदयका द्वार खुल जाय, सचमुच हमें माँ मिल जायगी और हमें कलेजेसे लगा लेगी । कहो, कहो, माँ, फिर कहो कि—"मैं ही तुम्हारी माँ हूँ ।"

रानी—मैं ही तो तुम्हारी माँ हूँ ।

सुरमा—अच्छा, तो फिर मंत्रीको बुलाओ । भइयाकी हत्या मत करो ।

रानी—यह क्या सुरमा ?

सुरमा—माँ, अचानक तुम्हारे दोनों होंठ क्यों सूख गए ? टकटकी क्यों बँध गई ? मुँह पीला क्यों पड़ गया ? कहो, भइयाकी हत्या नहीं करूँगी । कहो, हत्या नहीं करेंगे ।

रानी—मैं-मैं-विजयकी-हत्या करूँगी ? कौन कहता है ?

सुरमा—तुम ।

रानी—मैं ?

सुरमा—अभी तुम मंत्रीसे क्या बातें कर रही थीं ?

रानी—तुमने भी कुछ सुना ?

सुरमा—हाँ सुना । कुछ बातें मेरे कानमें भी पहुँचीं हैं ।

रानी—तभी ! (सूखी हँसी हँसकर) यह मंत्री बड़ा ही चालिया है । राज्य पानेके लिये उसने यह षड्यंत्र रचा है । विजयको उसने कारागार भिजवा दिया है । और वहीं कारागारमें उसे मार डालना चाहता था । जब मुझे मालूम हुआ तब मैंने उसे बुलाकर धमकाया और शान्त किया ।

सुरमा—क्या मंत्री ही भइयाकी हत्या करना चाहते हैं ?

रानी—हाँ ।

सुरमा—तो फिर यह बात पिताजीसे क्यों नहीं कह दी ? मैं कह दूँगी ।

रानी—नहीं, मैं ही कहूँगी । मैंने हत्याके बड़े भारी षड्यंत्रका पता लगाया है । राजकुमारको—अपने विजयको बचाया है । सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न होंगे । मैं उनसे कहूँगी ।

सुरमा—अगर तुम न कहोगी तो मैं ही कह दूँगी ।

रानी—सुरमा ! क्या तुम मुझपर सन्देह करती हो ?

सुरमा—हाँ, करती हूँ । माँ, यह बात मेरे मनमें नहीं बैठती । मैं किसी तरह विश्वास नहीं कर सकती कि मंत्री ही भइयाकी हत्या करेंगे ।

उनका इतना बड़ा हौसला नहीं हो सकता । उन्होंने भइयाको पाल-पोस-कर बड़ा किया है । वे इतने निरमोही, इतने क्रूर, इतने पैशाचिक नहीं हो सकते ।

रानी—और क्या मैं हो सकती हूँ ?

सुरमा—हाँ हो सकती हो । तुम विमाता हो । कैकेयीने रामको बनमें भेजा था । तुम वैसी ही हो सकती हो । विमाता क्या नहीं कर सकती ? तब भी हम लोग तुम्हें ‘ माँ ’ कहते हैं । अगर हम लोगोंके साथ प्रेम न करो तो कमसे कम हत्या भी तो न करो । हम लोगोंको जीने दो । (दोनों हाथ जोड़कर और घुटने टेककर रानीके सामने बैठ जाती है।)

[सुमित्रका हाथ पकड़े हुए महाराज सिंहबाहु आते हैं ।]

सिंह०—सुरमा, यह क्या हो रहा है ?

रानी—सुरमा दिन पर दिन बहुत बढ़ी चली जाती है । इतना बढ़कर बोलती है, इतना अभिमान दिखाती है, इतनी उद्धत—

सिंह०—यही तो देख रहे हैं ।

सुरमा—पिताजी ! घुटने टेककर भिक्षा माँगना क्या अभिमानका लक्षण है ?

रानी—इसकी बातचीतका ढँग देखते हैं ?

सुरमा—पिताजी—

सिंह०—चुप रहो, हम कुछ सुनना नहीं चाहते ।

(सुरमा जाती है ।)

रानी—देखा—जानेका ढँग देखा ? राजकन्या है, इसी लिये दिन-रात विमाताको आँखें दिखाती है । बात सिर्फ यही है कि महाराजने उसको बहुत सिर चढ़ा रक्खा है । नहीं तो—

सिंह०—अह, उसकी बात पर ध्यान मत दो । देखो, सुमित्रने क्या करतूत की है । आकर देखो ।

तीसरा दृश्य ।

स्थान—लंकाका समुद्रतट । **समय**—**सवेरा** ।

[जयसेन और बालक पेड़के नीचे बैठे हैं ।]

बालक गाते हैं ।

गीत ।

"किससे किसका क्या नाता है ?"
विमल ग्रीष्मके प्रात समयमें, गान सुरभिमें शोभाऽऽलयमें ।
सब कुछ लीन हुआ जाता है, "किससे किसका क्या नाता है-" ॥
स्निग्ध सुगन्धित मन्द पवनमें, मंजु कुंजमें भव्य भवनमें ।
अरे अधम ! तू क्या गाता है ? "किससे किसका क्या नाता है-" ॥
महिमा-उज्ज्वल प्रात-किरण है, शान्त मुग्ध सा नील गगन है ।
पगमें लय भूतल पाता है, "किससे किसका क्या नाता है-" ॥
अरे ! कौन दुख जाग पड़ा है-किसमें तेरा हृदय गड़ा है-
काँप काँप क्यों भय खाता है-"किससे किसका क्या नाता है-" ॥

जयसेन—क्या बात है !

पहला बालक—किसकी क्या बात है ?

जय०—इसी गानेकी । सुनते सुनते मुझे नींद आने लग गई थी ।

प० बा०—नींद आने लग गई थी ?

जय०—ऊपर पत्ते हिल रहे थे, समुद्र छपछप कर रहा था, नीला आकाश अपने पंख फैलाकर पृथ्वी-रूपी अण्डा सेता था और मैं सोचता था, क्या सोचता था !

दू० बा०—क्या सोचते थे ?

जय०—याद नहीं आता । सोचता था—या स्वप्न देखता था, सोया था—या जागता था-

दू० बा०— क्या आपको नहीं मालूम होता था कि क्या कर रहे थे ?

जय०—नहीं । अच्छा, मीनकेतु बतलाओ तो सही कि इस समय मैं सोया हूँ या जागता ?

ती० बा०—आपको क्या मालूम होता है ?

जय—एक बार तो यह मालूम होता है कि मैं इन पेड़ोंको देख रहा हूँ, तुम लोगोंकी बातें सुन रहा हूँ, हवा आकर हमारे शरीरमें लग रही है । अवश्य ही मैं जीता हूँ । लेकिन फिर सब बातें कल्पनामें लीन हो जाती हैं ! कुछ ठीक दिखलाई नहीं देता, अच्छी तरह समझमें नहीं आता, मालूम होता है कि यह सब छाया है, स्वप्न है ।

चौ० बा०—आपका दिमाग खराब हो गया है । इसका ठीक तरहसे इलाज होना चाहिए ।

जय०—अच्छा, यदि स्वप्न ही हो तो फिर यह पेड़ रोज हरा ही क्यों मालूम होता है, आकाश रोज नीला ही क्यों दिखाई देता है, कोयलका गाना नित्य कोयलके गानेकी तरह ही क्यों सुनाई पड़ता है ? कोयल एक दिन भी तोतेकी तरह नहीं गाती, समुद्रका जल एक दिन भी तो लाल नहीं दिखाई देता, एक दिन भी तो आकाश—

पह० बा०—आप टक लगाकर ऊपर क्यों देख रहे हैं ?

जय०—वह नीला, वह असीम, वह—आश्चर्य्य ।

दू० बा०—आश्चर्य ?

जय०—यदि स्वप्न ही हो तो ऐसा जाना बूझा-स्वप्न तो कभी नहीं देखा ! तो—भी—कुछ भी समझमें नहीं आता । कुछ भी नहीं पा सकता, मानों सब कुछ ढँक जाता है । ज्यों ही सोचने लगो त्यों ही सब ढँक जाता है ।

[उत्पलवर्णका प्रवेश ।]

ती० बा०—यह लो, राजपुरोहितजी आ गए ।

उत्पल०—क्यों, मालूम होता है कि तुम लोगोंको मेरी कुछ आवश्यकता है।

चौ० बा०—कहाँ, नहीं तो।

उत्पल०—नहीं, यह नहीं हो सकता। अवश्य ही तुम लोगोंको मेरी कुछ आवश्यकता है। अगर तुम लोगोंको मेरी आवश्यकता नहीं थी तो—मैं इधरसे आया ही क्यों? सोचता सोचता मैं और ही तरफ़ जा सकता था।

पह० बा०—आप क्या सोचते थे?

उत्पल०—पूर्वजन्ममें इन्हें देखा था। यह तो नहीं याद आता कि कहाँ देखा था, पर देखा अवश्य था।

दू० बा०—यह बात कौन नहीं मानता? हम लोग चारों तरफ़ घूमा करते हैं। आप भी—

उत्पल०—नहीं, यहाँ नहीं, पूर्वजन्ममें। अच्छा।—याद आ गया। एक दिन सवेरे उठकर मैं तमाखू पीता था और तुम लोग—तुम भी तो उन्हींमें थे—तालके किनारे बैठे हुए छिछली खेल रहे थे। क्यों ठीक है न?

ती० बा०—जी नहीं।

उत्पल०—भई तुम झूठ क्यों बोलते हो? पूर्वजन्मकी सब बातें मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। तुम्हारे 'नहीं' कह देनेसे हो जायगा!

चौ० बा०—वह लड़का शायद छिछली खेलता था।

उत्पल०—हाँ—

चौ० बा०—जी हाँ, वह मैं ही हूँ।

उत्पल०—तुम? हाँ, तुम्ही तो थे। ठीक है। याद आगया। जाड़ेका सवेरा था। ठीक है। कोई डेढ़ पहर—उसी पूर्वजन्ममें—

चौ० बा०—लेकिन यह बात पूर्वजन्मकी तो नहीं है।

उत्पल०—तब क्या उससे भी पहले जन्मकी ?

चौ० बा०—जी नहीं । वह तो परसों—

उत्पल०—परसों ? बेटा, झूठ मत बोलो । नहीं तो दूसरे जन्ममें चूहे होओगे ।

ती० बा०—जो झूठ बोलता है उसका चूहेका जन्म होता है ?

उत्पल—हाँ !

दू० बा०—क्यों पण्डितजी ! चूहा क्या बहुत झूठ बोलता है ?

ती० बा०—और सच बोलनेसे क्या छिपकलीका जन्म होता है ?

उत्पल०—क्यों, सच बोलनेसे छिपकिलीका जन्म क्यों हागा ?

ती० बा०—इसलिये कि जब छिपकिली गिरती है तब माँ ' सत्य सत्य ' कहती है । *

उत्पल०—क्या तुम दिल्लगी करते हो ?

ती० बा०—हाँ पण्डितजी, दिल्लगी करनेसे काहेका जन्म होता है ?

चौ० बा०—दिल्लगी करनेसे पतिंगेका जन्म होता है ।

ती० बा०—और गाली देनेसे गुबरीलेका जन्म होता है ।

दू० बा—और चिकोटी काटनेसे बिच्छूका जन्म होता है । क्यों पँण्डितजी ठीक है न ?

उत्पल०—(करुणाभावसे, सिर झुकाकर) तुम लोग पूर्वजन्म नहीं मानते ?

जयसेन—मैं मानता हूँ पण्डितजी ।

उत्पल०—देखा ? राजाके लड़के हैं कि नहीं । खूब समझते हैं । राजकुमार ! कल मैं तुम्हें लड्डू ला दूँगा । क्योंजी पूर्वजन्ममें तुम मेरे कौन थे ?

---

* बंगालमें यह प्रथा है कि जब छिपकली गिरती है तब स्त्रियाँ "सत्यि सत्यि" कहती हैं ।— अनुवादक ।

दू० बा०—दूसरे ब्याहकी स्त्री । नहीं तो इतना प्यार क्यों होता !

पह० बा०—पण्डितजी एक बात सुनिए ।

उत्पल०—यह तो मैं पहले ही समझता था । कहो, क्या है ।

दू० बा०—बात यही है कि ये राजकुमार जो पूर्वजन्ममें आपकी स्त्री थे, इस जन्ममें बिलकुल पागल होकर जन्मे हैं ।

उत्पल०—पागल होकर ?

चौ० बा०—हाँ, आप इसका कुछ उपाय कर सकेंगे ?

उत्पल०—इस जन्ममें ये क्या करते हैं ?

ती० बा०—बिलकुल हताश होकर बैठे बैठे कुछ सोचा करते हैं ।

पाँ० बा०—और लड्डू खाते हैं ।

उत्पल०—तब कोई चिन्ताकी बात नहीं है । ब्याह होते ही यह हताश होकर सोचना छूट जायगा । और लड्डू तो खाते ही हैं । मालूम होता है कि अब मेरा काम हो गया । अब मैं जाता हूँ । (जाते हैं)

पह० बा०—पण्डितजीने ठीक कहा । अब आप ब्याह कीजिए ।

जय०—ब्याह क्या ?

पह० बा०—ब्याह नहीं जानते ? ऐसा बोदा राजकुमार तो मैंने देखा ही नहीं । ब्याह नहीं जानते ?

जय०—नहीं ।

पह० बा०—पुरुष जानते हैं ?

जय०—हाँ ।

पह० बा०—बतलाइए तो कैसे होते हैं ?

जय०—इस (अपने कपड़े दिखलाकर) तरहके कपड़े पहनते हैं ।

पह० बा०—और स्त्रियाँ ?

दू० बा०—जो घाघरा पहनती हैं । (जयसेन इशारेसे उसकी बातका अनुमोदन करता है ।)

ती० बा०—इन सब बातोंका आपका ज्ञान तो बहुत बढ़ा चढ़ा है ।

जय०—हाँ, ये सब बातें मैंने खूब सीखी हैं ।

चौ० बा०—राजकुमार हैं कि नहीं । अच्छा, जो लोग ऐसे कपड़े पहनते हैं और जो घाघरा पहनती हैं वे दोनों जब अधिक समय तक एक साथ रहें तब उनमें प्रेम हो जाता है । तब वे आपसमें ब्याह करते हैं ।

जय०—प्रेम क्या ?

चौ० बा०—चाहना ।

जय०—चाहना क्या ?

पाँ० बा०—प्रेम ।

पह० बा०—समझे ?

जय०—हाँ, समझे ।

पह० बा०—अपना सिर समझे । अच्छा किसीको बराबर एकटक देखते रहनेकी भी आपकी इच्छा होती है ? उसके साथ सदा बातें करनेकी, उसकी तरफ देखते रहनेकी, उसे छूनेकी इच्छा होती है ? ऐसा कोई है ?

जय०—हाँ, है ।

पह० बा०—कौन है ?

जय०—वही राजकुमारी ।

पाँ० बा०—मार डाला । राजकुमारीके साथ आपका ब्याह हुआ तो सब कुछ हो चुका !

चौ० बा०—क्यों ?

पाँ० बा०—राजकुमारी कुवेणी ? उस आँधीको ये सँभाल सकेंगे ? उसकी आँखोंकी बिजली ये बरदाश्त कर सकेंगे ?

पह० बा०—राजकुमारीसे ब्याह करनेको आपका जी चाहता है ?

जय०—हाँ ।

दू० बा०—तब कोई हर्ज नहीं है । राजाकी पहली स्त्रीका लड़का और रानीके पहले पतिकी लड़की, दोनोंमें खूब निपटेगी ।

पह० बा०—तब आपने राजकुमारीसे यह बात कभी कही क्यों नहीं ?

जय०—कौनसी बात ?

पह० बा०—आप उससे यह कह सकेंगे कि—" हम तुम्हारे साथ ब्याह करेंगे "?

जय०—हाँ, हाँ ।

पह० बा०—अच्छा देखिए, आपके पिताजी आते हैं । हम लोग जाते हैं । देर हो गई ।

जय०—तुम लोग क्यों जाओगे ? अभी मत जाओ ।

विहाग ।

हम भी क्या खासे बनते हैं !
नृत्य देखकर नच जाते हैं, हँसी देख हँसते हैं ॥ हम० ॥
चन्द्र-वदन निज उठा उठा कर गपसटाक करते हैं ।
और उसीसे लड्डू पेड़े मधुर वस्तु चखते हैं ॥ हम० ॥
चलना फिरना अनुचित है यदि निश्चल रह सकते हैं ।
उठते नहीं बैठकर—जीवित—सोकर ही रहते हैं ॥
हम भी क्या खासे बनते हैं ।

(सब लोग जाते हैं)

[लंकाके महाराज कालसेन अपनी रानी वसुमित्राके साथ बातें करते हुए आते हैं ।]

वसुमित्रा—मैं समझती हूँ कि राजकुमार जयसेनका दिमाग खराब हो गया है ।

कालसेन—तुम तो ऐसी ही बातें सोचा करती हो । क्या वह पागल है ?

वसु०—नहीं, पागल तो नहीं है; पर हाँ कुछ झक्की है । टकटकी लगाकर आकाशकी ओर देखता रहता है, गीत सुनते सुनते आँखें बन्द कर लेता है और राजकुमारीकी तरफ़ एकटक देखता रहता है ।

काल०—हाँ यह तो हमने भी देखा है । कुवेणी पर वह कुछ अनुरक्त जान पड़ता है ।

वसु०—आप भी ऐसा ही समझते हैं ? परन्तु वह मुँहसे यह बात कभी कहता क्यों नहीं ?

काल०—हम भी यही सोचते हैं । वह कुछ कहता क्यों नहीं ? और आज भी उसने मुझसे कुछ क्यों नहीं कहा ?

[दोनों कुछ आगे बढ़ते हैं ।]

काल०—यदि जयसेनके साथ कुवेणीका विवाह हो जाय तो कैसा हो ?

वसु०—मैं भी तो यही सोचती थी । मगर—

काल०—तब अब दोनोंका विवाह ही होगा । दिन स्थिर करो ।

चौथा दृश्य ।

स्थान—जंगलमें डाकुओंका स्थान । **समय**—रात ।

(आग जल रही है । डाकू लोग आग सुलगा रहे हैं ।)

[भैरवका प्रवेश ।]

पह० डा०—लो सरदार आ गए । हम लोग भी तैयार बैठे हैं ।

दू० डा०—आज किधर चलना होगा, सरदार ?

भैरव—आज कहीं न ज़ाना होगा । आज छुट्टी है ।

सब—यह क्यों ?

भै०—डकैती तो रोज ही करते हैं, छुट्टी तो रोज नहीं होती ।

ती० डा०—छुट्टी लेकर क्या करेंगे ?

भै०—उसका ध्यान करो । उसको हाथ जोड़ो । उसके पैर पकड़-कर रोओ ।

चौ० डा०—किसकी बात कहते हो ?

भै०—(ऊपर हाथ उठाकर) उसकी ।

चौ० डा०—वह कौन है ।

भै०—उसका नाम नहीं, उसका रूप नहीं है । वह संसारका कुछ नहीं है और सब कुछ है ।

पह० डा०—वह कौन है ?

भै०—यह मुझे नहीं मालूम ।

दू० डा०—सरदार तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है ।

भै०—दिमाग जब होता है तब बीच बीचमें वह खराब भी जरूर होता है । और जिसको दिमाग ही नहीं उसका खराब क्या होगा !

पह० डा०—आज तुम कैसी बातें कर रहे हो ?

भै०—मैं आप नहीं जानता । देखो, अब मैं डकैती करना छोड़ दूँगा ।

सब—क्यों ?

भै०—छोड़ दूँगा ।

दू० डा०—छोड़ दोगे ?

भै०—हाँ छोड़ दूँगा । तुम लोग भी छोड़ दो । लूटना बहुत बुरा काम है ।

चौ० डा०—कौन कहता है बुरा है ?

(भैरव ऊपरकी तरफ इशारा करता है ।)

पाँ० डा०—लूटेंगे नहीं तो खायँगे कहाँसे ?

भै०—क्यों ? खेती करेंगे !

ती० डा०—खेती करेंगे ? जरा यह दोनों हाथ तो देखो । ये लोहेके दोनों डण्डे क्या खेती करनेके लिये बने हैं ? जरा इन दोनों हाथोंको देखो ।

भै०—बोझ ढोएँगे ।

ती० डा०—बोझ ढोती है पीठ, मार खाती है पीठ, इसी लिये पीठ पीछेकी तरफ होती है । दोनों हाथोंके रहते बोझ ढोएँगे ?

भै०—लेकिन यह लूट—

पह० डा०—लूट-मार कौन नहीं करता ? दूकानदार अपने गाहकोंको लूटते हैं, राजा अपनी प्रजाको लूटता है, आदमी सब जानवरोंको लूटता है और बड़े जानवर अपनेसे छोटे जानवरोंको लूटते हैं । भला दुनियाँमें कौन ऐसा है जो किसीको नहीं लूटता ? जिसकी लाठी उसकी भैंस ।

भै०—अच्छा जाओ । जरा सोचने दो ।

दू० डा०—सरदार ! आज किधर चलना होगा ?

भै०—जाओ, सोचने दो ।

(डाकू चले जाते हैं ।)

भै०—उसने कहा तो ठीक ! बहुत ठीक । कौन नहीं लूटता ! जो जबरदस्त होता है वह सबको दबा लेता है । भयसे ही दुनियाँका काम चलता है—हाथ पसारनेसे नहीं । समुद्र हाथ पसारनेसे मोती नहीं देता; उसके लिये गोता लगाता पड़ता है । खेत हाथ पसारनेसे अनाज नहीं देता, उसे जोतना पड़ता है । क्या लूट-मार करना बुरी बात है ?

कौन कहता है ? यही कहता है । (हृदयपर हाथ मारता है ।) यहाँसे कोई कहता है कि लूट मार करना खराब है । रह-रहकर अन्दरसे कौन चकोटता है ? चल हट ! दूर हो !

[अनुचरोंके साथ सुरमा आती है ।]

भै०—तुम कौन हो ?

सुर०—हैं ! भैरव भइया—

भै०—कौन ? तुम राजकुमारी हो न ? जरा अच्छी तरह देखो । मैं भूलता तो नहीं हूँ !

सुर०—नहीं भैरव भइया । तुम भूलते नहीं हो । मैं सुरमा हूँ ।

भै०—सुरमा ! सचमुच ? बहन ! मेरी बहन ! (हाथ बढ़ाकर आगे बढ़ता और फिर पीछे हट जाता है) नहीं नहीं, इस हाथसे तुम्हें नहीं छूऊँगा । यह हाथ खूनसे रँगा हुआ है ।

सुर०—यह क्या भैरव भइया ?

भै०—तुम राजकुमारी और मैं डाकू ।

सुर०—तुम डाकू हो ?

भै०—डाकुओंका सरदार ।

सुर०—यह क्या भैरव भइया ? तुम डाकू हो ?

भै०—तुमने क्या समझा था ? तुम समझती थीं कि मैं ऋषि हूँ ? वनमें तपस्या करने आया हूँ ? भैरव तुम्हारा पुराना नौकर है । तुम्हारे बापकी तरह, जिसे क्रोधमें ज्ञान नहीं रहता । तुम्हारे बापको मैं छुरी मारने चला था । तो क्या नौकरी छोड़नेपर एक दिनमें मैं ऋषि हो जाऊँगा ? पर इन बातोंको अब जाने दो । यह कहो, तुम यहाँ क्या करने आई ?
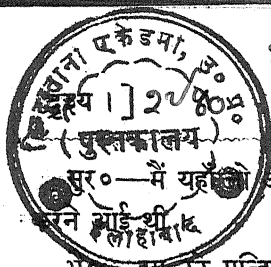
सुर०—मैं यहाँ तो आई नहीं थी । मैं तो कालीके मन्दिरमें पूजा करने आई थी ।

भै०—इस टूटे मन्दिरमें ?

सुर०—इसी कालीके मन्दिरमें । इसके बाद तुम्हारी आवाज सुनाई पड़ी । बहुत दिनों बाद तुम्हारी आवाज सुनी थी । मुझसे रहा न गया । मैंने सोचा, चलो एकबार तुम्हें देख आऊँ ।

भै०—बहुत अच्छा किया बहन । मैंने भी बहुत दिनोंसे तुम्हें नहीं देखा था और फिर तुम्हें देखनेसे ही क्या होगा ? तुम्हें गोदमें तो मैं ले ही न सकूँगा ।

सुर०—क्यों ?

भै०—इसलिये कि अब मैं डाकू हूँ ।

सुर०—सचमुच तुम डाकू हो ? नहीं, झूठ बोलते हो ।

भै०—व्रज डकैतका नाम सुना है ?

सुर०—हाँ ।

भै०—मैं वही व्रज डकैत हूँ । चकित होकर क्यों देखने लगीं ? बहन, तुम यहाँ पूजा करने क्यों आई थीं ?

सुर०—मैं भइयाकी मंगल-कामनासे पूजा करने आई थी ।

भै०—क्यों, भइयाको क्या हुआ है ?

सुर०—पिताजीने उन्हें कारागारमें डाल दिया है । माता उन्हें विष खिला कर मार डालेंगी । इसी लिये मैं पूजा करने आई हूँ । भैरव भइया, मेरा अब कोई नहीं है । इसी लिये काली माईके पास दौड़ी आई हूँ ।

भै०—ओह ! अब समझा । विजयसिंह कारागारमें हैं ?

सुर०—हाँ, भैरव भइया ।

भै०—कितने दिनोंसे वे वहाँ हैं ?

सुर०—आज दो दिनसे। आज दोपहरको माँ उन्हें विष देनेकी बातचीत कर रही थीं।

भै०—सुरमा, उसे माँ मत कहो। ऐसे अच्छे शब्दका अपमान मत करो। उसको माँ मत कहो। वह विष देगी ?

सुर०—हाँ भैरव भइया।

भै०—ठीक ही है। माता दूध पिलाती है और विमाता जहर देती है। ठीक ही है।

सुर०—इसी लिये मैं कालीजीकी पूजा करने आई थी। मैं यह बात पिताजीसे कहने गई थी, पर उन्होंने मुझे डाँट दिया। भैरव भइया, अब मेरा कोई नहीं है।

भै०—कोई नहीं है ?

सुर०—कोई नहीं भइया।

भै०—बहन, कोई डर नहीं है। मैं तो हूँ।—मृत्युंजय।

[एक डाकू आता है।]

भै०—सब लोगोंको बुलाओ।

(डाकू जाता है।)

भै०—बहन, मैं तो मौजूद हूँ। जबतक मैं जीता हूँ तबतक तुम्हारी शैतान माँ विजयसिंहका बाल भी बाँका न कर सकेगी।

[सब डाकू आते हैं।]

डाकू लोग—क्या है सरदार ?

भै०—तुम लोग पूछते थे न कि आज किधर चलना होगा ?

सब—हाँ, सरदार।

भै०—मैंने ठीक कर लिया है। संध्या समय सब लोग तैयार रहें।

सब—अच्छा।

(सब डाकू जाते हैं ।)

भै०—सुरमा, तुम डरती हो? डरनेकी कोई बात नहीं है । इन लोगोंका सरदार मैं ही हूँ। बहन, विजयके सम्बन्धमें भयकी कोई बात नहीं है । मैं उन्हें बचाऊँगा । बचाकर फिर उन्हें तुम्हारे हाथमें दे दूँगा । इसके बाद फिर जब कोई संकट पड़े तब मेरे पास आना । मैं तुम्हारे आँसू पोंछ दूँगा । जाओ, घर जाओ । डरनेकी कोई बात नहीं है । जानेसे पहले, आओ एक बार तुम्हें गोदमें ले लूँ । (गोदमें लेकर) मैं तुम्हारा पुराना नौकर हूँ। घरपर वह नागिन आई । मुझसे वहाँ रहा नहीं गया । शरीरमें बल था । डाकुओंका सरदार हो गया । पर फिर भी बहन, मैं तुम्हारा और विजयका वही नौकर हूँ। जब जी चाहे तब मेरे पास आना । तुम्हें रुपया नहीं दे सकूँगा, अच्छा भोजन नहीं दे सकूँगा —जो तुम्हें घरपर मिलता है । हाँ, आदर-प्यार करूँगा,—जो घरपर तुम्हें नहीं मिलता । चलो, तुम्हें पहुँचा आऊँ ।

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—कारागार । **समय**—रात ।

[हथकड़ी और बेड़ीसे जकड़े हुए विजयसिंह बैठे हैं । सामने हाथमें कटोरा लिए हुए मंत्री खड़े हैं । पास ही पहरेदार खड़ा है ।]

विजय०—मंत्री महाशय! यह शरबत पीनेके लिये आप बार बार मुझसे अनुरोध क्यों करते हैं? कहिए तो इस शरबतमें कौनसा गूढ़ उद्देश्य मिला हुआ है?

मंत्री—यह क्या कुमार!

विजय०—यह विष तो नहीं है?

मंत्री—नहीं नहीं। भला ऐसा हो सकता है!

विजय०—यदि यह विष नहीं है तो आप इस अभागे कैदीके साथ व्यर्थ अपना समय क्यों नष्ट कर रहे हैं? और बतलाइए तो कि बीच बीचमें मुझसे यह शरबत पीनेके लिये क्यों कहते हैं! क्या यह विष है?

मंत्री—नहीं नहीं। भला ऐसा हो सकता है?

विजय०—हो तो अवश्य सकता है। मैं राज्यका कण्टक हूँ; प्रासादका साँप हूँ, राजमार्गका खुला हुआ बाघ हूँ। मैं पिताका संकट हूँ और आप उनके मंत्री हैं! तब भला यह क्यों नहीं सकता? ठीक ठीक बतलाइए, क्या यह विष है?

मंत्री—नहीं, विष नहीं है।

विजय०—क्यों मंत्री महाशय, आप बगलें क्यों झाँकते हैं? मुँह सामने कीजिए। (हाथ पकड़ लेते हैं।)

मंत्री—युवराज!

विजय०—निर्भय होकर उत्तर दीजिए। आप अवश्य ही राज्यके योग्य मंत्री हैं। आप निर्भीक हैं, बुद्धिमान् हैं। आप अच्छी तरह राज्य चलावेंगे। सामने देखिए। (हाथ पकड़ते हैं) यह बात भूल जाइए कि मैं राजकुमार हूँ। यह भूल जाइए कि मैं इस देशका भावी राजा हूँ। सिर्फ यही समझिए कि आपने मुझे गोदमें खिलाया है, चूमा है, गले लगाया है! सिर्फ यही समझिए कि मैं पिताके स्नेहसे वंचित हो गया हूँ; सिर्फ यही समझिए कि मेरी माँ नहीं है। अब तो बतलाइए, क्या यह विष नहीं है?

मंत्री—युवराज, आप यह सन्देह क्यों करते हैं?

विजय०—(हाथ पकड़कर) बतलाइए। चौंके आप क्यों? बतलाइए यह विष है?

मंत्री—नहीं, युवराज ।

विजय०—अच्छा तो फिर आप भी इसमेंसे आधा शरबत पीएँ। (कटोरा मंत्रीके मुँहके पास ले जाते हैं ।)

मंत्री—मैं !

विजय०—(कटोरा रखकर) यह क्या ? एकाएक आपका स्वर क्यों भंग हो गया, आपकी दृष्टिसे भय क्यों प्रकट होने लगा; आप काँपने क्यों लगे ? नहीं नहीं, मंत्री महाशय ! आप जीते रहिए, दीर्घ-जीवी होइए, निर्विघ्नतापूर्वक महाराजके अनुग्रहका भोग कीजिए । आप क्यों मरने लगे ? नहीं, दीजिए, विष दीजिए । मैं उसे पीता हूँ । भय काहेका ? यदि पिता अपने पुत्रको मारनेके लिये विष भेज सकते हैं और आप जैसे पुराने नौकर वह विषपात्र मजेमें होंठोंतक पहुँचा सकते हैं तब संसारमें और क्या नहीं हो सकता ! हे परमेश्वर !—लेकिन नहीं, मैं किसको बुलाता हूँ ? लाइए, विष दीजिए । मंत्री महाशय ! मैं आपके सामने प्राण देता हूँ । आप यह खबर महाराजके पास ले जाइए, इनाम मिलेगा । उनसे कह दीजिएगा कि अपने जीवनमें मैं उनसे बहुत ही प्रेम करता था; कोई पुत्र अपने पितासे इतना प्रेम नहीं करता । और मरते समय भी उन्हींका नाम—क्या कहूँ, मंत्री महाशय—उनकी जय हो । (कटोरा हाथमें लेकर) वे राज-राजेश्वर हों । मैं यह विष पी लेता हूँ । (पीना चाहते हैं ।)

मंत्री—नहीं, मत पीएँ । (विजयसिंहके हाथसे जबरदस्ती कटोरा लेकर फेंक देते हैं ।)

विजय०—हैं । यह क्या किया !

मंत्री—वह विष था ।

विजय०—नहीं, वह अमृत था। पिता यदि अपने पुत्रको विष दे तो वह अमृत है। मैं सदासे पितृभक्त हूँ। मैंने पिताजीकी बात कभी नहीं टाली। दूसरा विष लाइए। राजमहलमें विषकी कमी नहीं है। आप ले आइए, मैं आसरेमें हूँ।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) युवराज, आप मुझे क्षमा करें।

विजय०—आप विष ले आइए। मैं आपको क्षमा कर दूँगा। किस भरोसेपर आप पिता और पुत्रके बीचमें पड़ते हैं? पिताजीकी आज्ञा है—आप विष ले आइए।

मंत्री—युवराज, आप शान्त हों। यह विष महाराजने नहीं भेजा है। वे इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते।

विजय०—नहीं, यह नहीं हो सकता।

मंत्री—स्वर्गमें देवता इसके साक्षी हैं। महाराज क्रोधान्ध अवश्य हैं—पर क्रूर नहीं हैं। क्रोधके समय उन्हें संसारमें कुछ दिखलाई नहीं पड़ता। पर फिर भी दुष्टता या किसीको कष्ट पहुँचानेकी कामना उन्हें छूतक नहीं गई है। विष उन्होंने नहीं दिया।

विजय०—तब किसने दिया है?

मंत्री०—महारानीने।

विजय०—(उद्भ्रान्तभावसे) और आप?

मंत्री—मैं मांसके एक टुकड़ेपर लुभाया हुआ कुत्ता हूँ!—मैंने मनुष्यत्व बेच दिया है।

विजय०—(भयसे) हाय! मैंने यह क्या किया!

मंत्री—क्यों, क्या किया?

विजय०—हे स्वर्गके देवताओ! मैं महापापी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। मैंने पिताजीको दोष दिया, इसके लिये मुझे क्षमा कीजिए। ऐसे पिता—

पुत्रके स्नेहके कारण आपसे आप स्तनसे निकलनेवाली दूधकी धारके समान । आकाश फट पड़ेगा । पिताजी ! क्षमा कीजिएगा जो स्वप्नमें भी मैंने यह बात सोची कि ऐसा भी हो सकता है । मंत्री महाशय ! यह मुझे क्या हो गया था ।

मंत्री—नहीं नहीं । आप मेरी ओर इस प्रकार न देखें ! मैं आपसे क्षमा नहीं चाहता । उसके लिए जगह ही मैंने नही रक्खी । इस पापका एक ही प्रायश्चित्त है और वह यह—(अपने कलेजेमें कटार मारकर गिर जाते हैं ।)

[सैनिकोंके साथ महारानीका प्रवेश ।]

रानी—यह क्या किया मूर्ख !

मंत्री—भागो, भागो । चली जाओ ।

रानी—बिना इसे मारे नहीं । —सिपाहियो ! इसे मारो ।

मंत्री—खबरदार !

रानी—मैं रानी हूँ, मैं आज्ञा देती हूँ, मारो ।

मंत्री—(उठनेकी चेष्टा करते हुए फिर गिरकर) सावधान !

रानी—पत्थरकी मूरतोंकी तरह क्या खड़े हो ! सिपाहियो ! मैं आज्ञा देती हूँ, इसे मार डालो !

(सिपाही नंगी तलवार लिए विजयसिंहकी ओर बढ़ते हैं ।)

विजय०—मेरी हत्या मत करो । पहले मुझे एकबार पिताजीसे मिल लेने दो !—एकबार उनके चरण पकड़कर क्षमा माँगूगा । एकबार—

रानी—सिपाहियो ! आगे बढ़ो ।

विजय०—ठहरो, तुम लोग सिपाही हो—जल्लाद नहीं । यदि तुम लोग मुझे मारना चाहते हो तो पहले मेरे हाथ—पैर खोल दो, हाथमें

तलवार दे दो और तब सौ सिपाही मेरे सामने आकर खड़े हो जाओ। युद्धमें मारो। हत्या मत करो, मुझे खोल दो।

रानी—तुम अपराधी हो! विचारके बन्धनसे तुम्हारे हाथ-पैर कौन खोल सकता है? तुम अपराधी हो, दण्ड सहो। मैं तुम्हें प्राणदण्ड देती हूँ।

[सुरमा आती है।]

सुर०—तुम दण्ड देनेवाली कौन होती हो?

रानी—मैं महारानी हूँ।

सुर०—जो राजा होता है वह विचार करता है।

रानी—हट जाओ।

सुर०—नहीं, मैं भइयाकी हत्या नहीं होने दूँगी। यदि तुम रानी हो तो मैं राजकन्या हूँ।

रानी—यह काहेका शब्द है?—सिपाहियो! यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे तो—फिर शोर होता है—मुझे जानते हो—हैं! यह काहेका शब्द है? वध करो। वध करो।

(नेपथ्यमें कोलाहल होता है।)

सुर०—(तलवार निकालकर) सिपाहियो! विना मुझे मारे तुम लोग भइयाको नहीं मार सकोगे।—यह तो भैरवकी आवाज है। अब कोई डर नहीं।

रानी—तो फिर मुझे ही यह काम करना पड़ा। लाओ, मुझे तलवार दो। (आगे बढ़ती है।)

विजय०—अब डर नहीं है भइया—भैरव, भैरव! इधर, इधर!

[डाकुओंके साथ भैरव आता है।]

भै०—कौन?—यह तो रानी है!

रानी—भैरव !

भै०—हाँ । इन लोगोंने भइयाके हाथ-पैर बाँध दिए हैं । खोल दो ।

(डाकू हथकड़ी-बेड़ी खोलना चाहते हैं ।)

भै०—सिपाहियो ! खबरदार । एक कदम भी आगे बढ़े कि गए । ब्रज डकैतका नाम सुना है ? मैं वही ब्रज डकैत हूँ । सीधी तरहसे खड़े रहो ।

रानी—तुम डाकू यहाँ क्यों आए ?

भै०—डरो मत रानी, मैं किसीका कुछ लूटने नहीं आया हूँ । मैंने नौकरी छोड़कर डकैती शुरू की है । पर याद रखना, सुरमा और विजयका मैं वही भाई हूँ । आओ बहन ! आओ भइया ! मेरे साथ चलो । कोई डर नहीं है ।

दूसरा अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—श्यामदेशके राजमहलका आँगन । **समय**—सवेरा ।

[विजय, भैरव और डाकू ।]

विजय०—भाइयो, तुम लोगोंने मुझे छुड़ाया है । तुम लोगोंकी सहायतासे मैंने श्याम देश जीता है । अब तुम लोग देश लौट जाओ । भैरव, जाओ । इन लोगोंको देश लेते जाओ ।

भै०—क्यों देश क्यों जाऊँ ?

विजय०—तुम लोग यहाँ क्या करोगे ?

भै०—हम जो चाहें सो करें, आपसे इससे मतलब ?

विजय०—देश लौट जाओ ।

भै०—आपके कहनेसे ?

विजय०—तब क्या देश छोड़कर मेरे साथ विदेशमें घूमोगे ?

भै०—हमारी खुशी, इसमें आपका क्या ?

विजय०—अब तुम लोगोंकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है ।

भै०—खूब कहा, अब हम लोगोंकी जरूरत क्यों होने लगी ? क्या हम लोग फटे हुए जूते हैं जो पुराने होते ही फेंक दिए जायँगे ? अब हम लोगोंकी जरूरत नहीं है । कृतघ्न कहींके ! महाराजने अपनी खुशीसे नहीं—बाध्य होकर आपको मारकर निकाल दिया है । अच्छा ही किया है।

विजय०—मैं भी यही समझता हूँ ।

भै०—आप क्या समझते हैं ?

विजय०—भैरव, पहले मैं कभी देशसे बाहर नहीं निकला था। इससे मुझे मालूम नहीं होता था कि देश क्या चीज है। पहले मैं समझता था कि देश केवल पृथ्वी और आकाश ही है। पर अब मालूम होता है कि जन्मभूमि भी एक मनुष्य है। वह बोलती है, हँसती है, रोती है, गलेसे लगा लेती है। बल्कि इससे भी बढ़कर जन्मभूमि साक्षात् माँ है, वह गर्भमें धारण करती है, स्तन पिलाती है, गोदमें रखती है। सो तुम लोगोंने मेरे लिये ऐसा देश छोड़ दिया है। भैरव, देश लौट जाओ।

भै०—अच्छा तो फिर आप भी चलिए।

विजय०—देशमें मेरे लिये जगह नहीं है। देशके राजा मुझसे विमुख हैं।

भै०—आप हमारे राजकुमार हैं। हम लोग आपको राजा बनाएँगे। सोचते क्या हैं? हम हजार डाकू आपके लिये प्राण देंगे। क्यों भई, तुम लोग क्या कहते हो?

डाकू—हम लोग युवराजके लिये प्राण देंगे।

विजय०—नहीं भैरव, यह क्या बात है? देश लौट जाओ।

भै०—देश लौट जायँगे पर आपको भी साथ लिए जायँगे। आपको राजा बनावेंगे! इसके बाद अगर आपका जी चाहेगा तो आप हम लोगोंको डाकू समझकर घृणासे छोड़ दीजिएगा, हम लोग चले जायँगे। इससे पहले नहीं। क्यों भई, तुम लोग क्या कहते हो?

डाकू—हाँ, इससे पहले नहीं।

विजय०—किन्तु—

भै०—आप व्यर्थ बातें क्यों करते हैं? आपकी माता नहीं हैं, पिता नहीं हैं। है एक पुराना नौकर। लेकिन उसके शरीरमें बल है, मनमें

तेज है और हृदयमें प्रेम है—जो आपके हृदयमें नहीं है। वह नौकर अवश्य है पर वह मनुष्य है।

विजय०—किन्तु भैरव—

भै०—मैं और कुछ भी सुनना नहीं चाहता । सब सुन चुका। हम लोग आपको नहीं छोड़ेंगे। बस ! बस ! चलो ! सब लोग चलो।

(डाकुओंके साथ प्रस्थान।)

विजय०—इतना स्नेह ! एक पुराना नौकर ! उसका इतना स्नेह ! और अपने पिता !—छोड़ो, अब उस बातका ध्यान नहीं करूँगा, नहीं तो पागल हो जाऊँगा। (इधर उधर टहलते हैं।)

[विजितका प्रवेश।]

विजित—यह तो विजय हैं। यहाँ अकेले क्या करते हैं ?—हैं ! आँखोंमें जल क्यों भरा है ?

विजय०—नहीं, कुछ नहीं ।

विजित—सेना तैयार है। आप तैयार हैं ?

विजय०—भइया विजित ! मुझे जरूरत नहीं है। मैंने अच्छी तरह सोच लिया। मुझे कोई जरूरत नहीं है।

विजित—किस बातकी जरूरत नहीं है ?

विजय०—पिताजीके साथ युद्ध करनेकी। जो हो, फिर भी वे पिता ही हैं।

विजित—पिता ! युवराज ! कैसे आश्चर्य्यकी बात है ! पिता भी कभी पुत्रके शत्रु होते हैं ? जिस पिताका कर्त्तव्य अपने पुत्रको मनुष्य बनाना है, जिस पिताका कर्त्तव्य अपने पुत्रके भविष्यके लिये सुख, शान्ति और स्वाधीनता आदिकी बलि दे देना है वही पिता लड़केके विरुद्ध खड़ा हो ? भला यह कितनी अस्वाभाविक बात है।

विजय०—पिताजीका स्वभाव ही ऐसा है । कभी तो वे मुझे पलभर भी न देखनेके कारण व्याकुल हो जाते हैं और कभी वे बिलकुल आँधीका रूप धारण कर लेते हैं । और फिर थोड़ी देर बाद ही वर्षाके समान स्नेह बरसाने लगते हैं । उनका स्वभाव ही ऐसा है ।

विजित—लेकिन पुत्रके विरुद्ध—

विजय०—नहीं नहीं, वे कभी पुत्रके विरुद्ध नहीं है । विजयका नाम सुनते ही वे पागल हो जाते हैं ।

विजित—लेकिन फिर भी कारागारमें—

विजय०—विमाताने उन्हें ऐसा कर दिया है । विजित, वे स्वयं कभी ऐसे नहीं हैं ।

विजित—लेकिन उसी विमाताके जालसे उन्हें छुड़ानेके लिये ही तो यह युद्ध है ।

विजय०—पिताको यह अधिकार है कि अपनी सन्तानको दण्ड दें । परन्तु पिताको दण्डित करनेका अधिकार—

विजित—लेकिन यह तो दण्ड देना नहीं है । यह तो पिताजीको बचाना, उन्हें व्याधिसे मुक्त करना है । यह तो पूर्ण चन्द्रमाका राहुके ग्राससे उद्धार करना है ।

विजय०—उन्हें क्रोध आ गया था । उनका अपने ऊपर अधिकार नहीं रह गया था । इसीलिये, नहीं तो वे स्नेहवान् हैं—बड़े ही स्नेहवान् हैं ।

विजित—यह हो सकता है ।

विजय०—हो सकता है नहीं भइया, यही बात ठीक है । एक दिन मैंने अभिमानके कारण भोजन नहीं किया था। महलसे निकलकर नदीके किनारे एक देवदारके पेड़के नीचे जा बैठा । चुपचाप नदीकी तरंगें देख रहा था, आकाशमें बगुले उड़ रहे थे, सूर्य्यकी किरणें नदीके जलपर नाच रही थीं;

पर्वत दूर खड़े पहरा दे रहे थे और मैं निहार निहार कर यह सब देख रहा था। अचानक पीछेसे मेरे ऊपर एक कोमल हाथ पड़ा। वह हाथ पिताजीका था। उन्होंने प्रेमपूर्वक मेरा मुँह चूम लिया। वही पिताजीका प्रेमपूर्ण चुम्बन था। मैंने उलटकर देखा। मैंने अभिमान-कम्पित स्वरसे पुकारा—" पिताजी।" पिताजीने मुझे जोरसे दबाकर कहा—" विजय, लौट चलो। मैंने जो कुछ कहा था अनुचित था। चलो, लौट चलो।" फिर मुझसे क्यों कर रहा जाता! मैं रो पड़ा। पिताजी भी रोने लगे। उस समय—उस समुद्रतटपर, उस दोपहरको, उस देवदारकी छायामें—क्या कहूँ विजित! मालूम होता था कि हम दोनों पिता-पुत्र नहीं हैं—भाई भाई हैं; एक साथ खेलनेवाले हैं, खेलका झगड़ा निपटाने बैठे हैं। उस मिले हुए अश्रुजलसे हम लोगोंका विच्छेद—

विजित—अब उन सब बातोंको याद करनेसे क्या होगा। मैं युद्धके लिये निकला हूँ; युद्ध करके तब ये सब बातें सुनूँगा।

विजय०—सुनो विजित!

विजित—नहीं, अभी सुननेकी फुरसत नहीं है।

[एक आदमी आता है।]

विजय०—आप बंगालके रहनेवाले हैं?

पह० आ०—हाँ, मैं बंगालका रहनेवाला हूँ। आप? क्या आप भी बंगालके रहनेवाले हैं?

विजय०—हाँ, मैं भी बंगालका रहनेवाला हूँ। आप सिंहपुरमें रहते हैं?

पह० आ०—जी नहीं, मैं राजधानीमें नहीं रहता। मेरा मकान नवद्वीपमें है।

विजय०—महाराज कैसे हैं?

पह० आ०—अच्छे हैं।

विजय०—और राजकुमार ?

पह० आ०—वे राज्यसे निकाल दिए गए हैं ।

विजय०—निकाले नहीं गए हैं । बड़े राजकुमार विद्रोही हैं और छोटे राजकुमार ? युवराज ?

पह० आ०—उनका हाल मुझे मालूम नहीं ।

विजय०—विदेशमें अपने देशके आदमीका मुँह कितना प्यारा मालूम होता है—जिससे मैं कभी बात करना भी पसन्द नहीं करता था उसीको बुलाकर बातें करता हूँ। उसकी एक एक बातमें कितना कवित्व, कितना संगीत और कितना अर्थ है ।

[दूसरा आदमी आता है ।]

विजय०—क्यों महाशय, आप बंगालके रहनेवाले हैं ?

दू० आ०—जी हाँ ।

विजय०—आप कहाँ रहते हैं ?

दू० आ०—सिंहपुर ।

विजय०—महाराजका कुछ हाल जानते हैं ?

दू० आ०—हाँ जानता हूँ ।

विजय०—वे अच्छे तो हैं ?

दू० आ०—देखनेमें तो अच्छे ही जान पड़ते हैं ।

विजय०—आपसे उनसे भेंट हुई थी ? वे अपने बड़े लड़के विजयसिंहकी कुछ बात करते थे ?

दू० आ०—जी नहीं । अब मैं जाता हूँ । (जाता है ।)

[तीसरा आदमी आता है ।]

विजय०—ये एक और आए । जरा सुनिए । आप सिंहपुरसे आते हैं?

ती० आ०—जी नहीं, मैं काशीसे आता हूँ ।

विजय०—लेकिन आपके कपड़े तो बंगालियोंकेसे हैं ।

ती० आ०—मेरा दुर्भाग्य।

विजय०—दुर्भाग्य ?

ती० आ०—जी हाँ, और क्या ? हमारे देशके लोग जहाँ जरा सभ्य हुए कि बंगालियोंकेसे कपड़े पहनने लगे। आप कौन हैं ?

विजय०—मैं बंगालका रहनेवाला हूँ।

ती० आ०—आपके राजा सिंहबाहु हैं ?

विजय०—जी हाँ।

ती० आ०—वही जिन्होंने रानीके फेरमें पड़कर अपने लड़केको राज्यसे निकाल दिया है ?

विजय०—नहीं, उन्होंने निकाला नहीं है।

ती० आ०—कैद कर लिया है। उस नीच नराधम, पशु—

विजय०—खबरदार !

ती० आ०—आँखें क्या दिखलाते हैं ? आप विदेशमें रहते हैं, सिंहबाहुकी करतूत आपने नहीं सुनी। खूनके प्यासे, पुत्रघाती—

विजय०—(उसका गला पड़कर) खबरदार !

ती० आ०—छोड़ दो।

विजय०—नहीं नहीं, आप मुझे क्षमा कीजिए। मुझसे गलती हुई।

ती० आ०—सिर्फ गलती हुई ? बड़ी भारी गलती हुई। जाइए, इस बार आपको छोड़ देता हूँ। लेकिन फिर कभी अगर आप ऐसा करेंगे तो याद रखिए, कभी माफ न करूँगा। मेरा मिजाज बड़ा खराब है। (जाता है।)

विजय०—पिताजीकी बदनामी—और मैं ही उसका कारण ! पिताजी ! आज एक अजनबी आदमीसे आपकी निन्दा सुनता हूँ और वह निन्दाकी बात तीरकी तरह यहाँ छिद जाती है। पिताजी ! अब

मुझे मालूम होता है कि आपको मैं कितना चाहता हूँ—कितना चाहता हूँ।

[विजितका प्रवेश ।]

विजित—महाराज सेना तैयार है ।

विजय०—विजित अब मुझे छुट्टी दो ।

विजित—यह क्यों महाराज ?

विजय०—मैं विद्रोह नहीं करूँगा ।

विजित—लौटकर अपने राज्यमें नहीं चलेंगे ?

(विजयसिंह चुप रहते हैं ।)

विजित—बिना घरद्वारके, घरसे निकाले हुए सदा विदेशमें ही रहेंगे ?

विजय०—नहीं, मैं पिताजीके पास लौट जाऊँगा । चलकर उनके पैर पकडूँगा । वे दयार्द्र हो जायँगे । मैं जानता हूँ, वे दयार्द्र हो जायँगे।

विजित—लेकिन उनके वे आँसू फिर आपकी विमाताके निश्वाससे उत्तप्त होकर उष्ण भाफ बन जायँगे । युवराज ! जुड़े हुए हाथ स्नेह और भिक्षाका रूप धारण करते हैं । आप उनको दिखला दीजिए कि उनका स्नेहदान भिक्षादान नहीं है—वह न्याय्य अधिकार है । नहीं तो—

[उरुवेल और अनुरोधका प्रवेश ।]

विजय०—उरुवेल क्या खबर है ? हैं ! यह भेरीकी ध्वनि !

उरु०—यह विपक्षियोंके शिविरकी भेरीकी ध्वनि है । महाराज सिंहबाहुकी आज्ञाकी घोषणा हो रही है ।

विजय०—सचमुच ! क्या आज्ञा है ? क्या महाराजने मुझे क्षमा कर दिया ? क्या वे मुझे अपने पास बुला रहे हैं ?

अनु०—नहीं युवराज !

विजय०—तब ?

अनु०—महाराजकी यह आज्ञा है कि जो व्यक्ति युवराजका कटा हुआ सिर हमारे सामने लावेगा, उसे एक हजार मोहरें इनाममें मिलेंगी।

विजित—क्यों विजय ! आप चुप क्यों हो रहे ?

विजय०—यहाँतक !—विजित ! मेरा सिर घूमता है ।

विजित—आप दृढ़ होइए । आपको यह दुर्बलता शोभा नहीं देती। आप वीर हैं । बभ्रुवाहनने अर्जुनसे युद्ध किया था । युद्धमें कुटुम्ब और जातिका विचार नहीं होता ।

विजय०—विजित, तुम ठीक कहते हो ।

विजित—यह सुनिए तुरहीकी ध्वनि । युवराज ! युद्धके लिये आगे बढ़ो ।

विजय०—हाँ युद्धके लिये आगे बढ़ो । मैं कार्य्य चाहता हूँ, कार्य। यदि कार्य्य न होगा तो मैं अपनी ही वेदनाके भारसे दब जाऊँगा । अब नहीं रहा जाता । सेना तैयार करो ।

दूसरा दृश्य ।

स्थान—लंका, समुद्र-तट । **समय**—सवेरा ।

[कुवेणी और सहेलियाँ ।]

गजल ।

चमकते साँझ-किरणोंमें उड़े जाते जलद कैसे ।
उड़ी है विश्वशोभाकी रँगीली जयध्वजा जैसे ॥
इन्हींके संगमें आओ चले हम देश परियोंके ।
मलयमें मिल, मिला दें नीलनभमें पंखको ऐसे ॥
जनन क्या है हुआ चिन्ता या नीरस काम करनेको ।
मही है दीखती कैसी, लखो नर दीखते कैसे ? ॥
पर यह सब जाननेसे क्या ? करो सुख-भोग जीवनका ।
न तो फिर जन्मसे फल क्या ? यथा रज है जगत तैसे ॥

कुवेणी—सन्ध्याकी किरणें आकर पृथ्वीतलका चुम्बन कर रही हैं, उनके प्रकाशमें नीला समुद्र लहरें मारता हुआ मानो काँप रहा है ।

जुमेलिया—ठीक कहती हो सखी ।

कुवे०—समुद्र-जलका स्पर्श करती हुई ठण्ढी हवा आ रही है जिससे शरीर सिहिर उठता है ।

जुमे०—वाह, क्या अच्छी हवा है !

कुवे०—क्यों सखी यह अच्छी हवा है ? यह तो जहर मिली हुई हवा है ।

जुमे०—क्यों सखी, यह जहर मिली हुई क्यों है ?

कुवे०—नहीं नहीं, मैं भूलती हूँ । यह हवा नहीं है—यह हवा नहीं है सखी—

जुमे०—सखी कैसा आश्चर्य्य है !

कुवे०—क्यों आश्चर्य्य काहेका ?

जुमे०—सखी, सुनती थी कि जब कोई प्रेममें हताश हो जाता है तब उसकी ऐसी दशा होती है, सुनती हूँ, जब दम्पतिमें कलह होती है तब ऐसी दशा होती है, सुनती हूँ, अन्त समयमें पापीकी भी ऐसी ही दशा होती है । लेकिन सखी, यह मैंने पहले पहल देखा कि सुखसे सोनेके पलंगपर सोनेवाले, और चुपचाप आरामसे पड़े पड़े राजसुख भोगनेवालेकी भी ऐसी दशा होती है । बिलकुल नई बात है ।

कुवे०—हाँ बेशक नई बात है । बाल्यावस्थामें मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ था । सखी कुछ समझमें नहीं आता कि यह कैसी अस्थिरता है—कैसी व्याकुलता है । क्षणक्षणमें ऐसा जान पड़ता है मानो साँस रुका जाता है ।

जुमे०—क्या किसीपर तुम्हारा अनुराग हो गया है ?

कुवे०—मैं अनुराग करूँगी ! विधाताने कभी मुझे वैसा बनाया ही नहीं । मैं किससे प्रेम करूँगी ? भला संसारमें कौन ऐसा है जो इस उद्दाम प्रेमका भार सह सके ? संसारमें कौन ऐसा है जो इसका प्रबल झोका सह सके ।

जुमे०—कोई नहीं है ?

कुवे०—कोई नहीं ।

जुमे०—क्या इस असीम संसारमें कोई किसीके साथ प्रेम नहीं कर सकता ?

कुवे०—असीम संसारमें ! क्या तुम इसीको संसार कहती हो ? यह तो एक बहुत ही छोटा टापू है । यह टापू तरंगोंकी चहारदीवारीसे घिरा एक कारागार है । सखी ! क्या तुम इसीको संसार कहती हो ? छिः !

जुमे०—क्यों ? और क्या चाहती हो ?

कुवे०—बतलाऊँ मैं क्या चाहती हूँ ? मैं चाहती हूँ कि अवारित-गति असीम अनन्त और मुक्त आकाशके ऊपर उड़कर इन अनन्त किरणोंमें चली जाऊँ । मैं चाहती हूँ कि इस घने, फैले हुए, उद्वेलित, स्फीत, उच्छ्वसित समुद्रकी तरंग-गर्जनको अपने पैरोंसे रौंदती हुई चली जाऊँ । मैं देखना चाहती हूँ कि इस समुद्रके उस पार कैसी गुप्त सौन्दर्य्य-राशि बिखरी हुई है, कैसा विचित्र संगीत हो रहा है, कैसा विशाल आलोक फैला है, कैसी मृदु वायु बह रही है । लेकिन मेरी यह कामना हृदयके एकान्त कोनेमें ही घुटघुट कर मरी जाती है ।

जुमे०—लो, राजकुमार आ रहे हैं ।

कुवे०—कौन ?

जुमे०—कुमार ।

कुवे०—जयसेन ?

जुमे०—हाँ ।

कुवे०—आने दो। उनका उन्मादका प्रलाप अच्छा लगता है। राजकुमार बिलकुल सीधे हैं।

जुमे०—सखी, तुमने उन्हें चौपट कर डाला।

कुवे०—क्यों, मैंने क्या किया ?

जुमे०—वही जो किया जाता है। अपने रूपका चित्र उनके चित्त-पटपर अंकित कर दिया है।

दू० स०—तबसे उनकी आँखोंमें नींद नहीं आती और—

ती० स०—न भूख है, न प्यास है, न काम है, न धन्धा है। पाग-लकी तरह देखते हैं, उन्मादियोंकी तरह बातें करते हैं, सनकियोंकी तरह सदा हँसते हैं और स्त्रियोंकी तरह रोते हैं।

कुवे०—यह क्यों सखी ?

चौ० स०—सखी, अभागे पुरुषोंका स्वभाव ही ऐसा है। यदि किसी युवतीकी नाक तिलके फूलकी तरह हो, उसकी आँखें नील कम-लकी तरह हों, घुटनों तक लटकते हुए घुँघराले काले बाल हों, पके हुए बिम्बकी तरह सरस लाल होंठ हों, तो बस, फिर वे नहीं बच सकते—उसे देखते ही वे आपेमें नहीं रहते। उनका मस्तक घूमने लगता है, छाती धड़कने लगती है,—वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं।

कुवे०—क्यों सखी, उनकी ऐसी दशा क्यों हो गई है ?

पह० स०—तुम्हारे ही कारण—

कुवे०—मेरे ही कारण ? यह कैसे ?

दू० स०—सखी, तुम्हींने उनका सर्वनाश किया है।

कुवे०—मैंने ?

ती० स०—बेचारेको तुमने अपने नैनोंके बाणसे घायल कर दिया है।

चौ० स०—आहा, बहुत ही बेचारा है।

कुवे०—क्या कहती हो जुमेलिया ? ये जयसेन मुझसे प्रेम करते हैं !

पह० स०—हाँ सखी ।

कुवे०—तो मालूम होता है कि उनकी दुर्दशाके दिन आ गए हैं ।

पह० स०—क्यों ?

कुवे०—क्यों सखी, जब पतंग जलती हुई आगमें गिरनेके लिए जाता है तब भला उसका क्या होता है ?

पह० स०—मरण ।

कुवे०—हाँ सखी, मरण । संसारमें जितनी स्त्रियाँ हैं वे केवल यही चाहती हैं—

[जयसेनका प्रवेश ।]

कुवे०—क्यों जयसेन, क्या हाल है ?

जय०—एक श्यामा चिड़िया इस पेड़पर बैठी थी ।

कुवे०—तब क्या हुआ ?

जय०—वह उड़ गई ।

कुवे०—अच्छा हुआ । और कुछ हाल-चाल सुनाओ ।

जय०—मुझे गाना आता है ।

कुवे०—अच्छा सुनाओ ।

[जयसेन गाना शुरू करते हैं । कुवेणी उन्हें बीचमें ही रोककर कहती है—]

" तुम्हारी आवाज बहुत ही मीठी—"

जय०—हाँ, मीठी है ? मुझे गाना सिखाओगी ?

कुवे०—हाँ सिखाऊँगी । तुम कभी कुछ पढ़ते-लिखते क्यों नहीं ?

जय०—मैं तुम्हींसे सीखूँगा ।

कुवे०—मैं क्या तुम्हारी गुरु हूँ ?

जय०—तुम मुझे—तुम मुझे नहीं चाहतीं ?

कुवे०—क्यों नहीं । और तुम ?

जय०—मैं ? कुवेणी ! तुम जानती हो कि—

कुवे०—क्या ?

जय०—तुम मेरी कुवेणी हो । मैं मुँहसे कहकर तुम्हें कुछ नहीं बतला सकता । मैं जब तुम्हारी तरफ देखता हूँ—और फिर मैं अशिक्षित हूँ । तुम मुझे सिखालेना कुवेणी । तुमसे—कुवेणी, तुम मुझसे ब्याह करोगी ?

(कुवेणी जोरसे हँसती है ।)

कुवे०—तुमसे ब्याह करूँगी मैं ? तुम्हारे मनमें यह विचार कैसे आया ? हैं ! तुम रोने क्यों लगे ? आओ, आँसू पोंछ दूँ । अरे मेरे भइया रे, चलो, घर चलें । ब्याह करनेके लिये मेरी रचना नहीं हुई है ।

[कालसेन और वसुमित्राका प्रवेश ।]

वसु०—कुवेणी, तुम यहाँ हो ? मैं आज दिनभर तुम्हें महलमें ढूँढ़ती रही ।

कुवे०—क्यों माँ ?

काल०—कुवेणी, तुम राजकुमारी हो, और अब बिलकुल बच्ची नहीं हो । तुम्हें यह हीन आचरण शोभा नहीं देता ।

कुवे०—(चिल्लाकर) हीन आचरण ! महाराज—

काल०—क्यों, एकाएक छेड़ी हुई नागिनीकी तरह फन फैलाकर क्यों फुफकार उठीं ? मैं फिर भी कहता हूँ कि यह हीन आचरण है । अब तुम बड़ी हुईं । तुम्हारा इस तरह महल छोड़कर बेरोकटोक मैदानोंमें, जंगलोंमें, पहाड़ोंकी चोटियों पर और समुद्रके किनारे घूमना अच्छा नहीं है ।

कुवे०—बस यही बात ! पर महाराज सच तो यह है कि मैं इतना घूमनेसे भी तृप्त नहीं होती । इस शरीरके बन्धनने मुझे बाँधकर इस

मर्त्यलोकमें रोक रक्खा है—इस शारीरिक दुर्बलताने मुझे कैद कर रक्खा है। नहीं तो महाराज! मैं चाहती हूँ, कि इस महान् नील समुद्रको पैरोंके नीचे छोड़कर नीले आकाशमें पंख फैलाकर तबतक बराबर उड़ती हुई चली जाऊँ जबतक कि यह क्षुद्र पृथ्वी मेरी दृष्टिमें लुप्त न हो जाय। मैं दौड़ जाना चाहती हूँ नक्षत्रमंडलसे नक्षत्र-मंडलमें, जीवनसे मरण, मरणसे जीवन और उस जीवनसे फिर दूसरे जीवनमें। मेरा जीवन, मेरा हृदय, मेरे प्राण निरन्तर दहकती हुई आगके समान जले जाते हैं। तीव्र आकांक्षा मुझे निरन्तर सुखाये डालती है। तुम क्या जानो! जानते हो? ना ना, तुम कैसे जान सकते हो?

काल०—चुप रहो। हम तुम्हारा यह प्रलाप सुननेके लिये यहाँ नहीं आए हैं।

कुवे०—तब?

वसु०—तुम्हें यह बतलाने आए हैं कि तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है।

कुवे०—मेरा कर्त्तव्य! समझी पिताजी! यदि आपने मेरा कर्त्तव्य समझा है तो बतला दीजिए। मैं तो कुछ जानती नहीं।

वसु०—कुवेणी, तुम विवाह करो।

कुवे०—विवाह! विवाह!! एक बन्धन तो था ही, अब उसपर एक और बन्धन! अधम पशुओंकी तरह जान बूझकर अपना गला यूपकाष्ठके भीतर बढ़ा दूँ? नहीं, माता! तुम मुझे क्षमा करो। मैं तो पहले ही कारागारमें हूँ, ऊपरसे तुम मुझे बेड़ी मत पहनाओ।

काल०—राजकुमारी! तुम यह क्या कह रही हो?

कुवे०—महाराज, आप मेरी बातें नहीं समझ सकते।

काल०—सुनो बेटी, हम तुम्हारे ही भलेके लिये कहते हैं। ब्याह कर लो।

कुवे०—क्यों महाराज ! मैंने कौनसा भारी अपराध किया है ?

काल०—तुम ब्याह करो । हमने तुम्हारे लिये पात्र ठीक किया है ।

कुवे०—(चौंककर) पात्र ठीक किया है ! कौन है वह पात्र ?

काल०—युवराज ।—हैं !–यह क्या ? तुम हँसने क्यों लगीं ?

कुवे०—मैं जयसेनसे ब्याह करूँगी ? यह तो बड़ी विलक्षण बात है ।

काल०—विलक्षण—

कुवे०—यह तो बहुत ही हास्यजनक बात है ।

काल०—क्यों ?

कुवे०—महाराज ! पहले आप मेरा मुँह देखें और तब अपने पुत्रका मुँह देखें । और तब यदि आप गम्भीरतापूर्वक कह सकें कि–"जयसेनसे ब्याह करो । " तो मैं अवश्य कर लूँगी । कैसी हास्यजनक बात है !

काल०—क्यों हास्यजनक क्यों है ? जयसेन लंकाके भावी अधिपति—

कुवे०—महाराज ! वैसे ही अधिपति जैसे आप हैं ?

वसु०—छिः कुवेणी ! तुम ऐसी बातें करती हो ? ये तुम्हारे पिता हैं।

कुवे०—क्यों पिता कैसे हुए ?

वसु०—धीरेसे बोलो ।

कुवे०—पिता क्या अपने पुत्रके साथ अपनी कन्याके विवाहका प्रस्ताव कर सकते है ? ये मेरे पिता हैं ! ये क्षुद्रजीव, ये भिक्षुक, जिन्हे रास्तेकी धूलिमेंसे उठाकर तुमने अपनी बगलमें बिठाया है—ये मेरे पिता हैं !!! वे तुम्हारे राजा हो सकते हैं, पर मेरे पिता नहीं हो सकते !

काल०—कुवेणी, तुम मेरे सामर्थ्यको तुच्छ समझ रही हो ?

कुवे०—हाँ, और यही स्वाभाविक है । मैं तो अपने एक ही पिताको जानती हूँ जिनकी आज्ञाको मैं ईश्वरकी आज्ञाके समान सिरपर रखती थी, जिनके उपदेशको कौस्तुभमणिकी तरह हृदयमें रखती थी, स्नेहपूर्वक

बुलानेसे दौड़कर जिनके पैरोंसे लिपट जाती थी, जिनके आँसू मेरे लिये वर्षाकी रात थे, जिनका हास्य मेरे लिये शरत्कालका सुन्दर प्रभात था, जिनकी ज्ञानमयी वाणी समुद्र-सङ्गीतके समान थी, जिनके वचन बहुत ही मीठे वसन्तके नए कोमल पत्तोंकी मर्मरध्वनिके समान थे और जिनकी क्रुद्ध वाणी वज्राघातके जैसी लगती थी । मैं उन्हीं एक पिता-जीको जानती हूँ । और इससमय वे स्वर्गमें हैं । उनके सिवाय दूसरे पिताको न मैं पहचानती हूँ और न मानती हूँ ।

काल०—चाहे पहचानो और चाहे न पहचानो । पर तुम्हें उसकी आज्ञा माननी पड़ेगी ।

कुवे०—नहीं महाराज ! उससे पहले ही मैं अपने गलेमें फाँसी लगा लूँगी ।

काल०—बहुत अच्छी बात है । रानी ! तुम्हारी लड़की बहुत मन-मानी हो गई है । वह जानबूझकर अपनी मौत बुला रही है ।

वसु०—महाराज ! आप शान्त हों । लड़की अभी अनजान है । मैं उसे समझा-बुझाकर ठीक कर लूँगी ।

कुवे०—माँ ! आज मैं पहले ही पहल देख रही हूँ कि तुम इस राजभिक्षुककी ‘ महाराज ’ कहकर कातर कम्पित कण्ठसे खुशामद कर रही हो । तो क्या मैं यही समझ लूँ कि इस राजमहलमें अब तुम दासी हो और ये तुम्हारे महाराज और स्वामी हैं ? क्यों चुप क्यों हो गई ? ठीक है, मैंने अपना कर्त्तव्य समझ लिया ।

वसु०—मेरी प्राणोंसे भी प्यारी बेटी ! तुम अपना कर्त्तव्य समझ गई ?

कुवे०—रहने दो । अब इस प्रेमकी आवश्यकता नहीं । मैंने अपना कर्त्तव्य समझ लिया । मैं अबतक समझती थी कि तुम्हीं महारानी हो ।

पर आज मुझे मालूम हुआ कि अब तुम महारानी नहीं रह गई बल्कि अपने ही राजमहलमें तुम दासी हो गई । फिर भी मैं तुम्हें 'महारानी' कहती हूँ केवल सुजनताके कारण । अब मैं अपना कर्त्तव्य समझ गई ।

काल०—अब तो तुम मेरी आज्ञा मानोगी न ?

कुवे०—नहीं, यह नहीं समझा, बल्कि मैंने यह समझ लिया कि अब मेरा यहाँ रहना ठीक नहीं है ।

वसु०—यह क्या बेटी !

कुवे०—मैंने सोचा था कि मेरे पिता नहीं हैं तो माता तो है । मैं उसीकी गोदमें आश्रय लूँगी, उसीके आँचलमें मुहँ ढाँककर रोऊँगी । मैंने सोचा था कि संसारमें ऐसा एक आदमी तो मेरा अपना है जिससे मैं एकान्तमें अपने जीकी बात कह सकूँगी । लेकिन अब मैं देखती हूँ कि इस संसारमें मेरा कोई नहीं है । पिता नहीं हैं । माता थी, पर अब वह भी नहीं रही । जानती हो जननी ?—नहीं, तुम इन बातोंको क्या जानो ! तुमने प्रेम करना सीखा ही नहीं । तुम्हारे माता-पिता बचपनमें एक साथ नहीं मरे । विलासमें ही तुम्हारा जन्म हुआ, विलासमें ही तुम पलीं, विलासमें ही तुम्हारा विवाह हुआ और विलासमें ही तुम विधवा हुई । सो विलासकी रची-पची हुई तुम, मेरे इस समयके मार्मिक दुःखको कैसे जानोगी !

वसु०—बेटी, क्रोध मत करो—

कुवे०—नहीं, मैं क्रोध नहीं करती । जननी ! जो उद्धत होता है उसपर क्रोध किया जा सकता है, किसी अतिशय पतितपर नहीं । भला मैं तुमपर क्रोध क्यों करने लगी ! तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हारी यह दुरवस्था देखकर, तुम्हारा यह दासत्व देखकर, मंत्रमुग्ध नागिनका कुचला और धूलमें मिला हुआ फन देखकर मैं मन ही मन दुःखसे किस तरह मरी जा रही हूँ ।

काल०—तुमने क्या निश्चित किया ? हमारी आज्ञा मानोगी या नहीं ?

कुवे०—तुम्हारी आज्ञा महाराज ! मैं तुम्हारी आज्ञापर लात मारती हूँ। क्षमा करो, क्यों व्यर्थ बँधे हुए शेरको उत्तेजित करते हो ? मैं तुम्हारी आज्ञा कभी न मानूँगी। तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।

काल०—तब हम तुम्हें कैद करेंगे।

कुवे०—मुझे कैद करोगे ? (हँसती है) क्या तुमने कभी सुना है कि किसीने समुद्रकी लहरोंको बाँधा है, बिजलीको चमकनेसे रोका है, बादलको गरजनेसे रोका है ? ओ लंकाकी रानीके पति ! मैं तुम्हारी धमकियोंकी परवा नहीं करती। पर अब मैं यहाँ तुम लोगोंके सुखमें बाधा डालनेके लिये नहीं रहूँगी। लंकाके राजमहलमें अब कुवेणीकी कृष्ण-छाया नहीं दिखेगी।

वसु०—यह क्या बेटी ! तुम कहाँ जाओगी ?

कुवे०—मैं नहीं जानती कि कहाँ जाऊँगी। पर हाँ, लंकाके राज-महलमें अब नहीं रहूँगी।

वसु०—यह क्या ? बेटी !

कुवे०—माता अब तुमसे बिदा होती हूँ।

वसु०—यह क्या कुवेणी ! मुझे छोड़कर तुम कहाँ जाओगी ? तुम अभी अनजान लड़की हो। चलो, घर चलो।

कुवे०—वह घर घर नहीं जहाँ स्नेह नहीं, वह जन्मभूमि जन्मभूमि नहीं जहाँ स्नेह नहीं और वह माता माता नहीं, जिसमें स्नेह नहीं।—जननी ! अब मुझे बिदा करो। (जाती है।)

———

तीसरा दृश्य ।

स्थान—कारागार । **समय**—दोपहर ।

[सिंहबाहु और अनुरोध ।]

सिंह०—क्या कहा, मुझे किसने कैद किया है ?

अनु०—महाराज विजयसिंहने ।

सिंह०—महाराज विजयसिंह ! कहाँके महाराज ?

अनु०—बंगालके महाराज ।

सिंह०—बंगालके महाराज तो हम हैं ।

अनु०—जी—

सिंह०—'जी' नहीं, 'महाराज' कहो। बंगालके महाराज केवल हम ही हैं । ब्रह्माण्डमें केवल एक ईश्वर है--दो नहीं । आकाशमें एक ही सूर्य्य है । राज्यमें एक ही राजा होता है । घरमें कर्त्ता–धर्त्ता एक ही आदमी होता है–दो नहीं । जबतक हम जीते हैं तबतक बंगालके केवल हम ही राजा हैं ।

अनु०—और विजयसिंह ?

सिंह०—डाकू—जिसने यह सोनेकी बंगभूमि लूट:ली है, मेरा राज्य छीन लिया है । लेकिन मानिक चोरी हो जानेपर भी मानिक ही रहता है । हम चाहे पराजित हों, पदच्युत हों, बन्दी हों, कुछ भी हों, जब तक हम जीते हैं तब तक सिर्फ हम ही महाराज हैं । विजयसिंह नहीं–याद रक्खो ।

अनु०—विजयसिंह आपके पुत्र हैं ।

सिंह०—जबतक पिता जीते रहें तबतक पुत्र महाराज नहीं होता–वह युवराज रहता है । महाराज हम हैं ।

अनु०—अच्छा ऐसा ही सही। मैं यहाँपर पदवीका विचार करने नहीं आया हूँ। महाराज विजयसिंहने कहलाया है—

सिंह०—युवराज विजयसिंह कहो।

अनु०—उन्होंने कहलाया है—

सिंह०—पहले कहो कि युवराज विजयसिंहने कहलाया है; और नहीं तो चले जाओ। हम तुम्हारी बात नहीं सुनना चाहते। चले जाओ।

अनु०—जी, मैं तो केवल नौकर हूँ।

सिंह०—क्या हमारे पास कोई नहीं है जो इस आदमीको कायदा सिखला सके? जब महाराजसे कोई बात कहनी होती है तब घुटने टेककर पहले 'महाराज' कह कर तब बात शुरू की जाती है। कहो कि—"महाराज! युवराज विजयसिंहने निवेदन किया है—" और तब जो कुछ कहना हो सो कहो।

अनु०—अच्छा! युवराज विजयसिंहने कहलाया है कि मैं एक बार महाराजसे भेंट करना चाहता हूँ। यदि महाराज कृपा करके—राजसभामें आवें—

सिंह०—राजसभामें?

अनु०—अर्थात् युवराजके पास आवें।

सिंह०—कौन जायगा? किसके पास? महाराज जायँगे—युवराजके पास? जाओ, युवराजसे कह दो कि यह कायदा नहीं है। यदि उन्हें कुछ निवेदन करना है तो यहाँ आकर निवेदन करें।

अनु०—यह तो कारागार—

सिंह०—हम जहाँ रहें वहीं हमारा राज्य है। इस कारागारमें ही हमारा राज्य है। और यही चौकी (बैठकर) हमारा सिंहासन है। हम यहीं बैठकर उनका निवेदन सुनेंगे।

अनु०—तो क्या महाराज यहीं उनके साथ भेंट करेंगे?

सिंह०—हाँ, यहीं।—जाओ। उनको भेज दो। हम उनकी बात सुनेंगे।

अनु०—जो आज्ञा महाराज! (अनुरोधका जाना।)

सिंह०—विजयको इतना अभिमान हो गया है! इतना दम्भ! (क्रोधसे इधर उधर घूमते हैं।)

[सुरमाका प्रवेश।]

सिंह०—कौन?

सुर०—मैं हूँ, सुरमा।

सिंह०—सुरमा कौन?

सुर०—आपकी कन्या सुरमा।

सिंह०—क्यों! यहाँ क्या काम है?

सुर०—क्या पिताके पास कन्या बिना कामके नहीं आती?

सिंह०—विजयने तुम्हें कैद नहीं किया?

सुर०—भाई कहीं बहनको कैद करते हैं!

सिंह०—नहीं! केवल पुत्र अपने पिताको कैद करते हैं। क्यों, मानवधर्म्म-शास्त्रमें यही लिखा है न?

सुर०—क्या आप कैदमें हैं?

सिंह०—यह देखो सुरमा! उन्होंने मुझे हथकड़ी-बेड़ी पहना दी हैं—हाथ बाँध दिए हैं। (रोकर गद्गद् स्वरसे) पैर भी बाँध दिए हैं। यह देखो।

[रानीका प्रवेश]

रानी—महाराज! आप लड़कीके गले लगकर बच्चेकी तरह रोते हैं! लड़का तो अपने पिताको लाल लाल आँखें दिखलावे और पिता रोए—यह मैं आज पहले ही पहल देख रही हूँ।

सुर०—यह सब किसकी कुमंत्रणासे हुआ है मा?

रानी—मेरी कुमंत्रणासे ?

सुर०—अवश्य । मेरे भइया ऐसे नहीं है । वे पिताजीके लिए सदा पागल बने रहते हैं । पिताजी भी सीधे सादे हैं । तुम्हींने पिताको पुत्रसे विमुख कर दिया है और पुत्रको भड़काकर पिताके विरुद्ध खड़ा कर दिया है—दो प्रेमपूर्ण हृदयोंमें आग लगा दी है । धन्य हो तुम !

रानी—वाह माताके प्रति कन्याकी कैसी उपयुक्त बात है–कैसा उचित आचरण है ! विपत्तिके समय अच्छी कन्याएँ धैर्य्य दिलाती हैं– इसतरह फटकार नहीं बतलातीं ।

सुरमा—मैं तो धैर्य्य ही दिलाने आई थी । अपनी सहवेदनाके आँसुओंसे पिताजीके हृदयका घाव धोकर उसपर प्रेमका प्रलेप लगाने आई थी; परन्तु अपने परमस्नेहास्पद पिता–बंगालके महाराजके हाथ-पैर बँधे देखकर मेरे आँसू ही सूख गए । पिताजी ! आपका यह अपमान !

रानी—इसी पुत्रके लिए महाराज निरन्तर पागल बने रहे ! पहले इसने राज्यमें भारी उपद्रव खड़ा करके राज्यको अराजक किया और तब राज्यसे बाहर जाकर उस अराजक राज्यको बिलकुल नष्ट करनेका प्रयत्न किया । यह पुत्र है या शत्रु ?

सिंह०—बोलो मत ।

रानी—क्यों, बोलूँ क्यों नहीं ?

सिंह—चुप रहो ।

सुर०—पिताजी !

सिंह०—चुप रहो सुरमा ! मेरा खून उबल रहा है–आँखोंमेंसे चिंगा-रियाँ छूट रही हैं । मैंने विजयसे कैफियत तलब की है ।

रानी—हाँ, वह कैफियत देगा ! वह इस समय डाकुओंसे घिरा हुआ राजसिंहासनपर बैठा हुआ मजेमें हँस रहा है और आपके प्राण लेनेकी सलाह कर रहा है ।

सुर०—यह कभी नहीं हो सकता !

रानी—(महाराजकी ओर इशारा करके) यह समझती थीं कि ऐसा कभी हो सकता है ? यह समझती थीं कि तुम्हारे पिताके हाथमें इस तरह हथकड़ी और पैरमें बेड़ी पड़ेगी ?

सुर०—माँ, अब तुम और क्या मन्त्रणा करती हो ? और क्या अनर्थ करना चाहती हो ?

रानी—मैं ही तो सब अनर्थ करती हूँ। और तुम्हारे सब-गुणनिधान भइया राज्यके इष्टदेव, पुण्यके कल्पतरु—

सिंह०—चुप रहो !—विजयसिंह आता है ।

[अनुरोध और उरुवेलके साथ विजयसिंहका प्रवेश ।]

सुर०—भइया ! भइया ! यह क्या ?

विजय०—क्या है सुरमा ? ठहरो ।—पिताजी ! (प्रणाम करते हैं।)

रानी—वाह, क्या अच्छा ढोंग है !

विजय०—कौन ? महारानी ? अनुरोध ! महारानी यहाँ महाराजके पास क्यों आईं ? उरुवेल ! महारानीको दूसरे कमरेमें ले जाओ ।

उरु०—आइए महारानीजी !

सुर०—ठहरो ! भइया ! यह सब क्या हो रहा है ? क्या ये सब बातें तुमसे भी हो सकती हैं ?

विजय०—कौनसी बात सुरमा ! जिसने एक दुःखाच्छन्न परिवारमें शनिकी भाँति प्रवेश किया हो, जिसने मातृहीन अभागे पुत्रसे उसके पिताको छीन लिया हो, पुत्रके लिये अन्धकारमें काम देनेवाले उसी एक दीपकको भी जिसने बुझा दिया हो, जिसने पिताका मन पुत्रकी ओरसे फेर दिया हो, क्यों बहन ! उसके लिये ऐसा करना क्या कोई अन्याय है ?

सुर०—लेकिन—

विजय—ठहरो। अभी तो उसके साथ उचित और ठीक ठीक व्यव-हार हुआ ही नहीं। पर हाँ, आगे चलकर देखना! अभी होगा!

सुर०—लेकिन महाराजके प्रति—

विजय०—मैंने जो विद्रोह किया है? जब मैंने देखा कि भिक्षा निष्फल हुई तब ऐसा क्यों न करता?

सुर०—लेकिन उन्हें इस तरह कारागारमें बन्द करना और उन्हें हथकड़ी-बेड़ी पहनाना!—

विजय०—(बहुत ही आश्चर्यसे) यह क्या? (देखकर) हैं! अनुरोध! पिताजीके हाथ-पैर किसने बाँधे हैं?

अनु०—मैं तो समझता था कि यह सब युवराजकी आज्ञासे ही हुआ है।

विजय०—मैं पिताजीके हाथ-पैर बाँधनेकी आज्ञा दूँगा? अनुरोध! तुमने इतने दिनोंमें भी मुझे न पहचाना?

अनु०—क्या युवराजने यह आज्ञा नहीं दी थी?

विजय०—मैंने तो महारानीके हाथ-पैर बाँधनेकी आज्ञा दी थी! पिताजी! किसी भारी भूलके कारण यह बात हुई है। मैं स्वयं यह सब खोल देता हूँ। (हथकड़ी-बेड़ी खोलकर) सुरमा! यह हथकड़ी बेड़ी महारानीको पहना दो।

सुर०—यह क्यों भइया?

विजय०—तुम पिताजीको भी जानती हो और भइयाको भी जानती हो। हमें जो जिद् कर आती है उसे करते ही हैं। जाओ, पहना दो।

सुर०—मुझसे यह काम न हो सकेगा।

विजय०—खैर, तब मुझे ही यह काम करना पड़ा। (रानीको हथकड़ी बेड़ी पहनाते हैं।) महारानी! यहीं तुम्हारा दण्ड पूरा नहीं हुआ।

कल प्रजाके सामने महारानीका सिर मूँड़ा जायगा और उन्हें नगरके बाहर निकाल दिया जायगा । जाओ, ले जाओ महारानीको ।

(अनुरोधका महारानीको ले जाना ।)

विजय०—अब पिताजी ! मेरा एक निवेदन है ।

सिंह०—विजयसिंह ! क्या बन्दी होनेकी दशामें भी निवेदन सुना जाता है ?

विजय०—महाराज बन्दी नहीं हैं । महाराज जिस प्रकार पहले मुक्त थे, उसी प्रकार अब भी मुक्त हैं । केवल महारानीके सामने जानेका आपको अधिकार नहीं है ।

सिंह०—यह किसकी आज्ञा है ?

विजय०—मेरी ।

सिंह०—अरे लड़के ! तू हमारे सामने ही हुकुम चलाने लगा ! इस साहसका भी कुछ ठिकाना है ! जो अपने पिताके हाथ पैर बाँध सकता है, वह और क्या नहीं कर सकता !

विजय०—महाराज, मेरी आज्ञासे अथवा मेरी जानकारीमें यह काम नहीं हुआ ! महाराज, मुझपर विश्वास करें ।

सिंह०—हो, या न हो । एक ही बात है !

विजय०—महाराज मुझे क्षमा करें ।

सिंह०—और उसके बाद ?

विजय०—मेरा निवेदन सुनें ।

सिंह०—बंगालके महाराज सिंहासनपर बैठकर निवेदन सुनते हैं ।

विजय०—अच्छा ऐसा ही सही । मैं बंगालके सिंहासनपर अधिकार नहीं कर बैठा हूँ—मुझे राज्य लेनेकी लालसा भी नहीं है । मैं केवल एक बातका अधिकार चाहता हूँ । उस अधिकारसे मुझे कोई वंचित नहीं कर सकता । स्वयं महाराज भी वंचित नहीं कर सकते ।

सिंह०—विजयसिंह ! तुम राजद्रोही हो । हम तुम्हारा न्याय-विचार करेंगे । उसके बाद तुम्हारा निवेदन सुनेंगे ।

विजय०—बहुत अच्छा । विजित ! अब महाराज मुक्त हैं और जहाँ चाहें वहाँ जा सकते हैं । प्रणाम महाराज !

(विजयसिंह सबको साथ लेकर जाते हैं ।)

सिंह०—वही दर्प ! वही अभिमान ! मेरा पशुत्व नष्ट होता जा रहा है । मेरा हृदय पिघलता जा रहा है । मेरा अनुरूप पुत्र है । सुरमा ! बेटी !

सुर०—पिताजी ! भइया बड़े उच्च विचारके हैं, उन्हें क्षमा कर दीजिए ।

सिंह०—हमारा क्रोध जाता रहा—हम पानी पानी हो गए ।

चौथा दृश्य ।

[कालसेन और विरूपाक्ष बातें कर रहे हैं ।]

काल०—कुवेणीका कुछ पता नहीं लगा ?

विरू०—नहीं महाराज !

काल०—अच्छी तरह ढूँढ़ा था ?

विरू०—हाँ महाराज बहुत अच्छी तरह ढूँढ़ा । नगर, पर्वत, गाँव, जंगल सब जगह ढूँढ़ा ।

काल०—अच्छा जाओ !—मगर सुनो ! हारीतको सपरिवार पकड़ लाओ ।

विरू०—जो आज्ञा महाराज !

काल०—उसको सपरिवार फाँसी देंगे । देखें, अबकी वह अपनी छुपी हुई सम्पत्तिका पता बतलाता है या नहीं । जाओ, पकड़ लाओ ।

विरू०—जो आज्ञा । (जाना ।)

काल०—प्रजाका अभिमान चूर्ण करेंगे । कुल-बधुओंको कलंकित करेंगे । गाँवं जलाकर राख करेंगे । पूरा पूरा राज्य कर रहे हैं ! कौन ? जयसेन ?

[पागलोंकी तरह जयसेनका आना ।]

काल०—जयसेन ! यह भेस क्यों बनाया ?

जय०—अच्छा महाराज ! बदल आता हूँ । (जाना चाहता है ।)

काल०—ठहरो—सुनो जयसेन ! तुम दिनपर दिन पीले और दुबले हुए जाते हो । तुम्हें क्या हुआ है ?

जय०—क्यों, क्या हुआ है ?

काल०—तुम्हें खानेको नहीं मिलता ?

जय०—मिलता क्यों नहीं ? महाराज मुझे कुवेणीका पता लगा है ।

काल०—अच्छा बताओ, कहाँ है कुवेणी ?

जय०—समुद्रतलमें ।

काल०—क्या कहते हो ?

जय०—मैंने उसे देखा है । कल सन्ध्याके समय मैं समुद्रके किनारे खड़ा था । वहीं मैंने उसे देखा था ।

[कुछ दूरपर वसुमित्रा आती दिखलाई देती है ।]

काल०—इसका क्या मतलब ?

जय०—कुवेणी समुद्रमेंसे सूर्य्यकी तरह उठी । इसके बाद वह समुद्रपरसे चलकर मेरे पास आई और मेरा हाथ पकड़कर बहुत देर तक मेरे मुँहकी ओर एकटक देखने लगी । फिर वह धीरे धीरे चली और जाकर समुद्रके जलमें मिल गई । तब मैंने आकाशकी ओर देखा । वहाँ उज्ज्वल कनक-वेशमें कुवेणी खड़ी थी । थोड़ी देर बाद वह आकाशमें मिल गई ।

काल०—यह क्या कह रहे हो जयसेन ! फ़जूल बकवाद मत करो ।

जय०—नहीं, मैंने उसे सचमुच देखा था।

काल०—अच्छा जाओ, कपड़े बदल आओ।

जय०—महाराज मैंने साफ देखा था।

काल०—अच्छा, जाओ।

(जयसेनका धीरे धीरे जाना।)

काल०—कुछ सुना ?

वसु०—(आगे बढ़कर) कुमार पागल हो रहे हैं—प्रेममें !

काल०—यह नहीं हो सकता।

वसु०—नहीं प्यारे, हो सकता है। आप प्रेमकी गति नहीं समझ सकते। आपने कभी प्रेम नहीं किया।

प्रेम न गोपद-वारि है, गैरिक निर्झर प्रेम।
प्रेम न छानिक हुलास है, प्रेम नित्य दृढ़ नेम॥

काल०—खैर। क्या तुम भी हमें इसी प्रकार चाहती हो ?

वसु०—और क्या नहीं चाहती ? चाहती हूँ। नहीं तो मैं अपना सर्वस्व आपको अर्पण न कर देती।

काल०—क्यों तुमने हमें क्या दे दिया है ?

वसु०—(उत्तेजितभावसे) आप नहीं जानते ? प्राण, मन, शरीर, आत्मा, लोकलज्जा, धर्म्मभय, विभव, सम्पत्ति, सोनेकी लंका सब कुछ आपके चरणोंमें समर्पित कर दिया है। इसपर भी आप पूछते हैं कि मैंने आपको क्या दे दिया है ?

काल०—इतना !

वसु०—और फिर आप मेरी जातिपर राज्य कर रहे हैं, उसे अपने पैरोंसे रौंद रहे हैं। उसका आर्त्तनाद—एक समूची जातिका आर्त्तनाद, मैं अपने कानोंसे सुन रही हूँ। मैं उसकी जननी होकर उसका आर्त्तनाद सुन

रही हूँ। देख रही हूँ कि बालक अपनी माताके सामने सजल नेत्रोंसे निष्फल याचना कर रहे हैं; और मैं कुछ कर नहीं सकती। जो माता हो—जो जननी हो, वही उस दुःखको समझ सकती है।

काल०—तुमने हमें अपना यह राज्य क्यों दिया था रानी ?

वसु०—हाय क्यों दिया था ? मैं स्वयं ही अपने आपसे बार बार पूछती हूँ कि क्यों दिया था—सवेरे और शाम अपने आपसे मैं यही प्रश्न करती हूँ। उसी समय हृदयसे आत्म-ग्लानि उठती है और आकर गला दबा देती है। रातको नीले आकाशकी ओर देखकर मैं पूछती हूँ कि मैंने यह राज्य क्यों दे दिया ? उस समय सारे विश्वसे अट्टहासकी ध्वनि उठती है और मेरे शरीरका खून खौलने लगता है। आज आप भी पूछते हैं कि क्यों दिया था ?

काल०—यदि तुम्हें इतना ही पछतावा हो तो हम राज्य लौटा देते हैं। तुम ले लो।

वसु०—महाराज भला यह कैसे हो सकता है! स्त्री जो कुछ एक बार दे देती है, क्या वह फिर फेरा जा सकता है! जो कुछ वह खो देती है जन्म भरके लिये खो देती है।

काल०—वह क्या ?

वसु०—वह है धर्म! मैंने अपना धर्म्म खो दिया है! धिक्कार है! मुझे सौ बार धिक्कार है!

काल०—तुम पछता रही हो ?

वसु०—यौवनके प्रारंभमें ही मैं अकेली असहाय विधवा हो गई। उस समय अंग अंगसे यौवन फूटा पड़ता था, ऐश्वर्य्यके मदसे मत्त थी, कामनाकी मदिरा पीकर ज्वालामय हो रही थी, आधी पागल गई थी।—इस लिए एक साथ ही सब कुछ खो बैठी। और तब—

काल०—और तब ?

वसु०—महाराज ! अब कहनेसे क्या लाभ ? इसके बाद मेरे पास एक ही सम्पत्ति बची थी—उस अन्तिम सम्पत्तिका नाम लेते मेरी जीभ ऐंठ जाती है। मेरी एक मात्र सन्तान, मेरे मृत पतिका एक मात्र स्मृति-चिह्न,—अन्तिम रत्न, मुमूर्षका हरिनाम—उस कन्याकी भी मैंने अपने कामकी अग्निमें आहुति दे दी ! ओह ! (पसीना पोंछती है ।)

काल०—खूब ! अपने पापका ऐसा विस्तृत व्याख्यान—कण्ठस्थ पाठकी तरह ऐसी आवृत्ति, आजतक हमने पहले कभी नहीं सुनी थी ।

वसु०—मेरा सब कुछ गया । महाराज ! आप सब कुछ ले लीजिए, केवल मेरी कन्या मुझे लौटा दीजिए । एक कन्या लेकर मैं वैधव्यके समुद्रमें उतरी थी—इसके बाद किनारेपर लगी । वहाँ देखा—एक भुजङ्ग-वेष्टित और क्रूर गह्वरसंकुल जंगल । आखिर उस कन्याको साँपने काट लिया, वह छटपटा कर मर गई और मैं खड़ी खड़ी देखती रही ।

काल०—तुम्हें पछतावा होता है ?

वसु०—नहीं नहीं । मैं क्या कह रही हूँ । पागल हो गई हूँ ! जो कुछ गया है वह जाय ! आप रहिए । मैं आपके भुजङ्गपिच्छिल गलेसे लगी रहूँ । शून्यकी अपेक्षा यही अच्छा है ! यही अच्छा है ! (रोती है ।)

काल०—रोओ । सदा रोती रहो । इस जन्ममें तुम्हारा यह रोना बन्द नहीं होगा । प्यारी तुमने कुछ सुना ?

वसु०—कुछ नहीं । लंका समुद्रमें डूब जाय । आइए नाथ ! हम लोग प्रेमपूर्वक आकाशमें विचरण करें । जो होना होगा सो होगा ।

काल०—क्या कहती हो प्यारी ?

वसु०—मैं डूबने चली हूँ, डूबूँगी । आप भी डूबेंगे, मैं भी डूबूँगी । इस जातिके गरम खूनके समुद्रमें दोनों डूबेंगे । आइए डूबें । आइए, इस

सम्पत्तिके पर्वतके शिखरपरसे हाथ पकड़कर नाचते हुए गहरे गड्ढेमें उतर चलें । जाय, लंका रसातलमें चली जाय ।

[उत्पलवर्णका प्रवेश ।]

काल०—पुरोहितजी ! क्या खबर है ?

उत्प०—महाराज ! आज मैं पुरोहित बनकर आपके पास नहीं आया हूँ ।

काल०—तब क्या बनकर आए हैं ?

उत्प०—जातिका प्रतिनिधि बनकर मैं उसकी ओरसे आपके पास एक निवेदन करनेके लिये आया हूँ ।

काल०—कहिए, क्या है ?

उत्प०—आप अपना स्वेच्छाचार बन्द करें । पिताकी भाँति प्रजाका शासन करें । राज्यका और अपना सर्वनाश न करें ।

काल०—क्यों ? हमने किया क्या है ?

उत्प०—आपने राज्यमें डाकुओंका सा अधम व्यवहार किया है, लंकाकी स्त्रियोंके साथ व्यभिचार किया है, लड़कोंसे भरी हुई नाव डुबाकर उसका आनन्द देखा है, नगरमें आग लगा दी है और उसका दृश्य देखकर तालियाँ बजाकर प्रेतोंकी तरह आप नाचे हैं ।

काल०—झूठ ! बिलकुल झूठ !

उत्प०—सावधान महाराज ! समय रहते आप इसका प्रतिकार कीजिए । नहीं तो इसका प्रतिकार भगवान् करेंगे ।

काल०—आप क्या पागलोंकीसी बातें करते हैं !

उत्प०—नहीं, मैं पागल नहीं हूँ । मैं केवल कालके पृष्ठोंपर लिखा हुआ भवितव्यताका लेख पढ़े जाता हूँ, जिसके वर्णोंका आपको परिचय नहीं है । सावधान ! मैं केवल इतना ही कहे जाता हूँ और कुछ नहीं कहता ।

पाँचवाँ दृश्य।

—:०:—
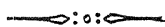
स्थान—बंगदेशकी राजसभा। **समय**—सवेरा।

[महाराज सिंहबाहुका हाथ पकड़कर विजयसिंह उन्हें सिंहासनपर बैठाते हैं।]

विजय०—महाराज! आप अपने सिंहासनपर बैठिए। मैंने बंगालके सिंहासनपर अधिकार करनेके लिये यह युद्ध नहीं किया था। मैं सिंहासन नहीं चाहता। मैं केवल आपके हृदयका सिंहासन चाहता हूँ। वह सिंहासन मेरा है। उससे मुझे कोई वंचित न कर सके—स्वयं महाराज भी वंचित न कर सकें।

सिंह०—विजय, तुम इस तरहका दावा करते हो! तुम्हारे दम्भपर हमें आश्चर्य होता है। अब भी वही गर्वपूर्ण दृष्टि! तनी हुई छाती! ऊपर उठा हुआ सिर!

विजय०—आखिर तो मैं आपका ही पुत्र हूँ।

सिंह०—हमारे पुत्र हो! खूब!

विजय०—हाँ, आपका ही पुत्र हूँ। नहीं तो इन हाथोंमें इतना बल कहाँसे आया? हृदयमें इतना अभिमान, इतना स्नेह कहाँसे आया? यदि मैं आपका पुत्र न होता तो राज्यका हर्त्ता-कर्त्ता बनकर फिर वही राज्य आपके चरणोंमें दान कर देता और आपसे इस तरह स्नेहकी भिक्षा माँगता?

सिंह०—दान! विजयसिंह! हम इसी समय सिंहासन छोड़ देते हैं। अगर हो सकेगा तो अपने बाहुबलसे इसका उद्धार करेंगे। नहीं तो जंगलमें जा रहेंगे! पुत्रका दान!

विजय०—यह पुत्रका अर्घ्य है। महाराज सिंहासनपर बैठे रहें।

सिंह०—कभी नहीं।

विजय०—(हाथ जोड़कर) मैं प्रार्थना करता हूँ।

सिंह०—सिंहबाहु अपने पुत्रका दान लेंगे ?

विजय०—पिता अपने पुत्रका अर्घ्य पैरोंसे नहीं ठुकराते ?

सिंह०—इससे पहले मर जाना अच्छा है। दान !

विजय०—महाराज ! क्या पुत्रका दान तुच्छ होता है ? पिता अपने पुत्रको जो जन्मदान करता है; बाल्यावस्थामें उसे जो अन्न और वस्त्र दान करता है, स्नेह दान करता है, शिक्षा दान करता है, क्या वह सब पुत्र भिक्षादानकी तरह ग्रहण करता है ? क्या वह सब उसका हक नहीं है ? और फिर जब पुत्र अपने वृद्ध मरणोन्मुख पिताको आहार, आश्रय, शक्ति और भक्ति दान करता है, तब वह भी क्या भिक्षादान होता है ? यह सब अदल बदल प्रकृतिकी समताके लिये होता है। महाराज, देवता लोग जिस प्रकार भक्तकी पुष्पांजली ग्रहण करते हैं उसी प्रकार आप भी पुत्रका यह दान ग्रहण करें। सिंहासन-पर बैठें।

सिंह०—लेकिन इससे पहले तुम इस बातकी प्रतिज्ञा करो कि हमारी आज्ञाको तुम राजाकी आज्ञाकी तरह ग्रहण करोगे।

विजय०—अवश्य ! जिस आज्ञाको मैं सदासे शिरोधार्य्य करता आया हूँ, हृदयमें धारण करता आया हूँ, आज क्या शरीरके पट्ठोंमें बल और रक्तमें तेज आजानेके कारण मैं उसका निरादर करूँगा ? मैं सदा ही आपकी प्रजा, सदा ही आपका पुत्र और सदा ही आपका सेवक रहूँगा।

सिंह०—तब सुनो विजयसिंह ! तुमपर जो भयंकर अभियोग लगाया गया है हम तुमसे उसकी कैफियत चाहते हैं।

विजय०—किस बातकी कैफियत महाराज !

सिंह०—तुम्हें हमने दण्ड दिया था, पर तुम कारागारसे निकल भागे। इसके सिवा इसी राज्यकी प्रजा होकर भी इस राज्यके राजाके विरुद्ध कलिंगदेशके पंगुपालको लाकर तुमने विद्रोह किया और राज्यपर आक्रमण किया। यह बड़ा भारी अपराध है। हम इसका उत्तर चाहते हैं।

विजय०—हाँ मैं इसका उत्तर दूँगा। लेकिन उत्तर देनेसे पहले पुत्र एक बार पिताजीसे भेंट करनेकी भिक्षा माँगता है।

सिंह०—इसका क्या मतलब ?

विजय०—इसका मतलब यही है कि महाराज अपने मंत्री, सेवकों तथा परिषदोंको पहले विदा कर दें और यहींपर एकान्तमें एक बार पिता और पुत्रकी भेंट हो। हाथ जोड़कर आपको महाराज कहनेसे पहले एक बार आपके गलेसे लिपटकर आपके गालपर अपना गाल रखकर मैं आपको 'पिताजी' कहूँ। मैं यह समझ लूँ कि आपके प्राणोंपर मेरा राज्य—मेरा अधिकार है। एक बार आपके कलेजेसे लगकर अपने दिलका हौसला निकाल लूँ, आपकी गोदमें मुँह छिपाकर-रो लूँ, तब मैं इसका उत्तर दूँगा।

सिंह०—पाखण्डी कहींका—

विजय०—नहीं, मैं पाखण्डी नहीं हूँ। मैं उद्दण्ड हो सकता हूँ, मूर्ख हो सकता हूँ, हत्यारा हो सकता हूँ; पर मैं पाखण्डी नहीं हूँ। महाराज ! आपपर मेरा बहुत अधिक प्रेम है।

सिंह०—हाँ हाँ, क्यों नहीं। इसका तो तुमने पूरा पूरा प्रमाण ही दे दिया है। अब तुम उत्तर दो। राजद्रोह बड़ा भारी अपराध है।

विजय०—मैं यह भारी अपराध स्वीकृत करता हूँ।

सिंह०—तब फिर ?

विजय०—मैं महाराजसे क्षमा माँगता हूँ।

सिंह०—क्षमा ! राजाके न्याय-विचारमें क्षमा नहीं है ।

विजय०—तब फिर महाराज, किसके न्याय-विचारमें क्षमा होती है ? अशक्तकी क्षमाका मूल्य ही क्या है ? जो अत्याचारका बदला ही नहीं ले सकता वह चाहे क्षमा करे या न करे उससे संसारका बनता-बिगड़ता ही क्या है ? जो दण्ड दे सकता है, जो अत्याचारीके पदाघातका बदला उसी अत्याचारीके रक्तसे धोकर चुका सकता है, वह यदि क्षमा करे तब बात है । वहीं क्षमाकी आवश्यकता है—वहीं क्षमाका माहात्म्य है । महाराज ! जिस समय आप कारागारमें थे और आपके हाथ-पैर हथकड़ी-बेड़ीसे बँधे हुए थे, तब मैंने आपसे क्षमा नहीं माँगी थी । पर महाराज अब फिर बंगालके राजसिंहासनपर आ गए हैं, अब यदि आप चाहें तो मेरा सिर काटनेकी आज्ञा दे सकते हैं । यही तो महाराजके क्षमा करनेका समय है ।

सब लोग—साधु विजयसिंह ! साधु !

सिंह०—विजयसिंह ! हम क्षमा करना नहीं जानते । हमने पहले ही तुम्हें प्राण-दण्ड दिया था । लेकिन अब हम तुम्हें वह दण्ड नहीं देते । अब हम तुम्हें अपने देशसे सदाके लिए निकल जानेका दण्ड देते हैं ।

विजय०—पिताजी ! मैं आपका दण्ड शिरोधार्य्य करता हूँ । अब महाराजके राज्यमें कोई विजयसिंहका नाम भी न सुनेगा । मैं आपको और देशको छोड़कर जाता हूँ; सदाके लिए जाता हूँ—पर एक बार आप फिर मुझे उसी तरह खींचकर गले लगा लें, जिस तरह पहले लगाया करते थे । स्नेह-गद्गद स्वरसे आप फिर मुझे उसी तरह ‘विजय’ कहकर पुकारें, जिस तरह पहले पुकारते थे । एक बार—पिताजी !—एक बार—

सिंह०—दूर हो पाखण्डी ।

विजय०—पिताजी ! (पैर पकड़ लेते हैं।)

सिंह०—हम तुम्हारा मुहँ नहीं देखना चाहते। दूर हो जाओ।

(लात मारकर चले जाते हैं।)

विजय०—ओह ! यहाँ तक ! महारानी अन्तमें तुम्हारी ही जीत हुई। मैं हार गया। ओह ! मेरी कैसी हार हुई ! मैंने पिताजीसे स्नेह-भिक्षा की—उन्होंने मुझे लात मार दी ! मेरे अगाध स्नेहका यही प्रतिफल है। हे जगदीश ! तुमने मेरे इस हृदयमें इतना स्नेह ही क्यों दिया था ? पिताजीका लात मारना ! ओह !—सारे शरीरमें आग लग गई है, सिर घूमता है !—मेरी कैसी हार हुई ! भगवति वसुन्धरे ! तुम फट जाओ। हैं सिर क्यों घूमता है !—यह क्या !

(मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं।)

उरुवेल—युवराज ! युवराज ! अनुरोध, जल्दी पानी लाओ। युवराज मूर्च्छित हो गए हैं। पानी लाओ—जल्दी लाओ।

(अनुरोधका प्रस्थान।)

विजित—युवराज !

(जल लेकर अनुरोधका आना।)

वि०—(मुँहपर जल छिड़ककर) युवराज !

[भैरवका प्रवेश ।]

भै०—कहाँ हैं ? हमारे विजयसिंह कहाँ हैं ?

विजित—बेहोश पड़े हैं।

भै०—बेहोश हो गए हैं ? विजय—भइया !

विजय०—पिताजी ! पिताजी ! (चारों ओर देखकर) पिताजी कहाँ हैं ?

भै०—पिताजी ! तुम्हारे पिताजी कहाँ हैं ? तुम्हारे भाई है

पिता नहीं है ! तुम हमारे भइया हो, हम तुम्हारे भइया हैं । संसारमें पिता कोई नहीं है ।

विजय०—(उठकर) भैरव ! तुमने क्यों आकर मुझे भइया कहकर पुकारा ? मेरा ऐसा अच्छा सुख-स्वप्न टूट गया ! देखता था कि पिताजी स्नेह गद्गद स्वरसे मुझे ' बेटा ' कहकर बुला रहे हैं, स्वर्गमें मानों वीणा बज उठी, मर्त्यलोकमें स्वर्गका प्रकाश फैल गया ! इसके बाद,—

वि०—विजय !

भै०—भइया तुम वीर हो । इतना अधीर होना क्या तुम्हें शोभा देता है ?

वि०—नहीं भैरव ! अब मैं देश छोड़कर जा रहा हूँ । मेरा देश ! प्यारी जन्मभूमि ! अब केवल तुम्हीं मेरी माता हो । तुम्हें भी छोड़ जाना पड़ा !—अच्छा, माता ! मुझे आज्ञा दो । व्यर्थ ही तुमने अपने दुरन्त पुत्रको अपना आकाश, अपनी वायु, अपने फल-मूल, अपना मीठा रस देकर मनुष्य बनाया था । मैं कुछ भी न कर सका । आज मैं पिता-माता-हीन, गृह-हीन और लक्ष्यहीन हूँ । मेरा कोई नहीं है । माता मुझे आज्ञा दो !

भै०—विजय, तुम देश क्यों छोड़ोगे ? बाहर दरवाजेपर पाँचहजार तलवारें तुम्हारे एक इशारेका आसरा देख रही हैं । बोलो—आज्ञा दो, अभी इस राज्यमें उथलपुथल मचा देता हूँ, इसे धूलमें मिला देता हूँ । अभी उसके पागल राजाको कैद कर लेता हूँ । तुम फिरसे नया राज्य स्थापित करो । विजय ! तुम देश क्यों छोड़ोगे ?

विजय०—नहीं भैरव ! पिता साक्षात् देवता हैं ।

विजित०—ऐसे ही पिता ?

विजय०—विजित ! सन्तान पिताको नहीं चुन ले सकती । चलो विजित ! राज्य छोड़कर चलें ।

भै०—राज्य छोड़कर क्यों जाओगे भइया ? आओ ! मैं तुम्हें अपनी फूसकी झोंपड़ीमें ले जाकर रक्खूँगा—किसीको पता भी न लगेगा। अपनी छातीमें छुपाकर रक्खूँगा—किसीको खबर भी नहीं होगी।

विजय०—नहीं भैरव ! पिता साक्षात् देवता होते हैं। मैं देश छोड़-कर चला जाऊँगा। भाइयो ! मैं बिदा होता हूँ।

विजित०—बिदा होते हैं ? नहीं भइया ! आप न जायँ। यदि आप यहाँ न रहना चाहें तो मैं आपको नहीं छोड़ूँगा। आप जहाँ जायँगे, वहाँ मैं भी आपके साथ चलूँगा।

विरूपाक्ष—मैं भी आपको नहीं छोड़ूँगा।

विशालाक्ष—हम लोगोंमेंसे कोई भी आपको नहीं छोड़ेगा।

विजय०—मेरे संग चलोगे ?

विशा०—हाँ चलेंगे।

विजय०—जानते हो मैं कहा जाऊँगा ?

विशा०—आप चाहे जहाँ जायँ, हम लोग साथ चलेंगे।

विजय०—मैं जहाँ जा रहा हूँ वहाँ न तो मनुष्य हैं, न आनन्द है और न मृत्युका भय है। जहाँ न तो कोई हँसता है, न कोई रोता है और न कोई प्रेम करता है। ओह ! संसारमें भी कितना भारी भ्रम फैला है ! शक्तिका कितना अधिक अपचय होता है ! संसारमें किसका विश्वास किया जाय ? जहाँ पिता लड़केको लात मारते हैं—और उस लड़केको जो पिताके स्नेहके लिये पागल है ! संसारमें सब चोर हैं। सब लोग पर्वतके समान स्वार्थी, समुद्रके समान स्वेच्छाचारी, आकाशके समान उदासीन और ईश्वरके समान कठोर हैं। यहाँ न्याय, ममता, भक्ति, विश्वास कुछ भी नहीं है। अच्छा तो चलो सब लोग, समुद्रमें नावको छोड़ दें।

छठा दृश्य ।

स्थान—बंगालका राजमहल ।

[सुरमा और लीला ।]

सुर०—बहन, कुछ सुना ?

ली०—हाँ बहन, सुना ।

सुर०—देशसे सदाके लिये निकाल दिए गए । इतना भारी दण्ड !—

ली०—तो फिर इसमें अन्याय ही क्या हुआ ? उन्होंने विद्रोह किया था, महाराजने विद्रोहीको दण्ड दिया । इसमें अन्याय तो कुछ भी नहीं हुआ ।

सुर०—हैं, यह तुम क्या कह रही हो ?—इतने स्नेहके बदलेमें—

ली०—राजाके न्याय-विचारमें स्नेहके लिये स्थान नहीं होता—पात्रापात्रका भेद नहीं होता । इसीको तो न्याय-विचार कहते हैं ।

सुर०—तो क्या तुम इससे बहुत सन्तुष्ट हुई हो ?

ली०—अत्यन्त । इतनी सन्तुष्ट हुई कि इस समय यदि युवराजकी स्त्रीके नाचनेकी प्रथा होती तो मैं नाचती ।

सुर०—तुमने तो एक बार कहा था कि जबतक तुम उनके पास रहोगी तबतक कोई उनका कुछ भी न कर सकेगा ।

ली०—हाँ, कहा तो था ।

सुर०—लेकिन इस निर्वासनके दण्डसे तो तुम उन्हें नहीं बचा सकीं ।

ली०—हाँ, बचा तो नहीं सकी । लेकिन मैंने यह तो नहीं कहा था कि कोई उन्हें निर्वासित ही नहीं कर सकेगा । मैंने तो यह कहा था कि कोई उन्हें पकड़कर न रख सकेगा ? सो कोई उन्हें पकड़कर रख सका ?

सुर०—मालूम होता है कि इस निर्वासन-दण्डसे तुम बहुत प्रसन्न हुई हो ।

ली०—हाँ प्रसन्न ही तो हुई हूँ।

सुर०—यह निर्वासनका दण्ड क्या अच्छा हुआ है ?

ली०—इसमें बुरा ही क्या हुआ ?

सुर०—मैं अभीतक तुम्हें न पहचान सकी।

ली०—कल पहचानोगी। (जाती है।)

सु०—कैसी विलक्षण प्रकृति है !

[सुमित्रका प्रवेश।]

सुमि०—बहन ! भइया कहाँ हैं ?

सुर०—वे तो देश छोड़कर जा रहे हैं।

सुमि०—कहाँ ?

सुर०—मालूम नहीं। सुमित्र ! कलसे भइया फिर तुम्हें कभी इस देशमें दिखाई न पड़ेंगे। वे ऐसे यहाँसे चले जायँगे कि मानों कभी यहाँ थे ही नहीं।

सुमि०—मैं भी उनके साथ जाऊँगा !

सुर०—बेचारा अबोध बालक यह नहीं जानता कि मुझको ही राजा बनानेके लिये ये सब उपाय हो रहे हैं।

सुमि०—यदि भइया यहाँसे चले जायँगे तो मैं यहाँका राजा न होऊँगा। मैं माँसे जाकर कहता हूँ। (जाना चाहता है।)

सुर०—मानों तुम्हारी माँ यह बात सुन ही तो लेगी !

सुमि०—उन्हें सुनना ही पड़ेगा। साफ बात तो यह है बहन, कि मैं माँसे भइयाको ज्यादा चाहता हूँ।

सुर०—लो यह पिताजी और विमाता आ रही हैं। सुनूँ, क्या सलाह करते हैं।

[सिंहबाहु और रानीका प्रवेश।]

सिंह०—हम पहलेसे ही जानते थे !

रानी०—वह विद्रोह कर सकते हैं ।

सिंह०—हाँ हाँ कर सकते हैं । कोई आधीसी प्रजा तो बिगड़ ही उठी है ।

रानी०—तो क्या यही मालूम होता है कि वह विद्रोह करेंगे ?

सिंह०—मालूम तो कुछ भी नहीं होता रानी !—पर इतना जरूर है कि आँखें दिखानेसे हम नहीं डरते । लेकिन—

रानी०—लेकिन क्या ?

सिंह०—नहीं, वह बात जाने दो । जब दण्ड दे दिया तो दे दिया; जो होगा, देखा जायगा ।

[विजयसिंहका प्रवेश ।]

विजय०—महाराज ! प्रणाम करता हूँ ।

सिंह०—कौन ? विजय ?

विजय०—(आगे बढ़कर) हाँ पिताजी, मैं हूँ ।

सिंह०—कब जाओगे ?

विजय०—अभी, इसी समय । जहाज तैयार है । (जाना चाहते हैं ।)

सुमि०—भइया, मैं आपको नहीं जाने दूँगा । (सुमित्र रास्ता रोकता है) विजयसिंह चले जाते हैं ।

सुर०—पिताजी ! यह आपने क्या किया ?

सिंह०—क्यों, क्या किया ?

सुर०—यह निर्वासनका दण्ड न दीजिए ।

सिंह०—यह दण्ड न दूँ ?

सुमि०—भइयाको बुला लीजिए । नहीं तो—

सुर०—भइया अभीतक इसी देशमें हैं । कल सन्ध्याको फिर आप उन्हें ढूँढ़नेपर भी न पायेंगे । अब भी समय है । यह दण्ड न दीजिए ।

सिंह०—अब भी समय है !

रानी—क्या कह रही हो सुरमा ? यह न्याय और विचारकी बात है; पिता-पुत्रकी कलह नहीं है । यहाँसे चली जाओ ।

सुर०—कल लाख सिर पटकनेपर भी भइया आपको नहीं मिलेंगे । वे बड़े अभिमानी हैं । अब वे नहीं लौटेंगे । जन्मभर रोना पड़ेगा । जन्मभर पछताना पड़ेगा । जन्मभर—

रानी—लड़की तू चली जा ।

सुर०—माँ, तुम राज्य ले लो, राजमहल ले लो, स्वर्ग ले लो । भइयाको लौटा दो । वे राज्य नहीं चाहते ।

रानी—यहाँसे हट जाओ उद्धत लड़की !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—(धीरेसे) जाओ ।—आओ इस ओर चलें ।

सुमित्रका हाथ पकड़कर धीरे धीरे जाते हैं । रानी उनके पीछे पीछे जाती है)

सुर०—(घुटने टेककर) परमेश्वर ! दयामय ! भइयाको लौटा मँगाओ । भइयाको लौटा मँगाओ ।

[बालकके वेशमें लीलाका प्रवेश ।]

ली०—अब देखो मैं कैसी मालूम होती हूँ !

सुर०—हैं ! यह क्या !

ली०—क्यों कैसी मालूम होती हूँ ?

सुर०—लीला ! यह क्या तुम्हारे लड़कपन करनेका समय है ?

ली०—आओ बहन, एक बात सुनाऊँ ।

सातवाँ दृश्य ।

स्थान—विजयसिंहका शिविर । **समय**—सवेरा ।

[विजित, उरुवेल और अनुरोध ।]

विजित—महाराजने भइयाको देशसे निकाल दिया है ।

उरु०—हाँ युवराज ।

विजित—क्या आफत है !—इस परिवारके सभी लोग पागल हैं ।

अनु०—कुमारने महाराजके पैर पकड़कर क्षमा माँगी थी ।

विजित—कुमार विजयसिंहने ?

अनु०—हाँ, युवराज ।

विजित—कुछ समझमें नहीं आता !—इतने गर्वी, इतने अभिमानी पुत्र—

अनु०—उस समय सभामें एक आदमी भी ऐसा नहीं था जो कुमारकी इस अश्रु-गद्गद प्रार्थनापर रो न पड़ा हो ।

विजित—अब वे क्या करेंगे ?

उरु०—वे देश छोड़कर चले जायँगे ।

विजित—कहाँ जायँगे ?

उरु०—मालूम नहीं ।

विजित—कब जायँगे ?

उरु०—आज ही ।

विजित—उनका दिमाग खराब हो गया है ।

अनु०—लेकिन प्रजा उन्हें नहीं जाने देना चाहती ।

वि०—वह क्या कहती है ?

अनु०—कहती है कि हम विद्रोह करेंगे । वह कहती है कि बंगालके महाराज सिंहबाहु नहीं हैं । बंगालके महाराज कुमार विजयसिंह हैं ।

विजित—इस पर विजयसिंह भी कुछ कहते हैं ?

अनु०—कुमार सबको समझाते हैं।

विजित—उनका दिमाग खराब हो गया है।

अनु०—शायद कुमार आ रहे हैं।

विजित—हाँ, उन्हींकी तो आवाज है।

अनु०—साथमें बहुतसे लोग हैं। कुमार उन्हें समझा रहे हैं।

विजित—लो, आ ही गए।

[विजयसिंहका प्रवेश।]

विजय०—लो विजित भी मिल गए!

विजित—भइया, क्या आप देश छोड़कर जा रहे हैं?

विजय०—हाँ विजित।

विजित—आप पागल हो गए हैं ?

विजय०—क्यों? महाराजने मुझे निर्वासनका दण्ड दिया है। अब देशमें रहनेका मुझे अधिकार ही क्या है?

विजित—जब महाराज अपनी रानीके अधीन हैं तब वे महाराज नहीं हैं।

विजय०—लेकिन वे पिता तो हैं।

विजित—वही पिता जिन्होंने ऐसे स्नेहमय पुत्रका त्याग कर दिया?

विजय०—पिता सदा ही पिता हैं।

[बालकके वेशमें लीलाका प्रवेश।]

विजित—तुम कौन हो ?

बालक—मैं एक पिता-माता-हीन बालक हूँ।

विजय०—क्या चाहते हो ?

बा०—नौकरी।

विजय०—तुम नौकरी करोगे ?

बा०—जब कोई और उपाय नहीं है तब नौकरी ही करूँगा ।

विजय०—किसकी नौकरी करोगे ?

बा०—समझ लीजिए कि आपकी ही !

विजय०—बतलाओ तो मैं कौन हूँ ?

बा०—मनुष्य । और इससे ज्यादाकी मुझे जरूरत भी नहीं है । यदि आप इससे कुछ भी कम होते तो मैं आपकी नौकरी न करता । आप आदमी ही हैं न ?

विजय०—नहीं, मैं बहुत ही अभागा हूँ ।

बा०—मैं भी अभागा ही हूँ । इस लिये आपके ही यहाँ मेरा निर्वाह होगा ।

विजय०—तुम इस उम्रमें नौकरी करने निकले हो ?

बा०—जी हाँ ।

विजय०—तुम्हें क्या आता है ?

बा०—मुझे एक ऐसी विद्या आती है जिससे आप बिना खुशी हुए रह ही नहीं सकते । विद्या क्या है बिलकुल ब्रह्मास्त्र है ।

विजय०—वाह ! भला वह कौनसी विद्या है ?

बालक—खुशामद ।

विजित—तुम खुशामद कर सकते हो ?

बा०—खूब अच्छी तरह ।

विजित—जरा नमूना तो दिखाओ ।

बा०—अच्छा । पहले तो आप यह समझ लीजिए कि आप देखनेमें बहुत ही श्रीहीन—

विजित—बहुत ही श्रीहीन !

बा०—हाँ बहुत ही श्रीहीन ।

विजित—कौन कहता है ?

बा०—सभी लोग कहेंगे ।

विजित—बस, मालूम होता है कि तुम इसी तरह खुशामद करोगे !

बा०—पहले पूरी बात तो सुन लीजिए । आप तो खूब हैं महाशय ! सभ्य व्यवहार नहीं जानते ?

विजित—वाह, खूब खुशामद की !

बा०—हाँ हाँ, मैं बहुत अच्छी तरह खुशामद कर सकता हूँ । आप कविता करते हैं ?

विजित—हाँ, करते हैं ।

बा०—लेकिन वह कविता कुछ होती नहीं ।

विजित—यह तुमने कैसे जाना ?

बा०—आपके चेहरेसे ही मालूम पड़ता है । ऐसे चेहरेसे कहीं कविता होती है ?

विजित—ऐसे चेहरेसे शायद कविता नहीं हो सकती ?

बा०—अच्छा, जब आप युद्ध करते हैं तब तलवार किस तरफ़से पकड़ते हैं ?

विजित—कबजेकी तरफसे ।

बा०—इसमें तो कोई विशेषता नहीं हुई । प्रतिभाका कोई लक्षण नहीं पाया जाता ।

विजित—क्यों ?

बा०—तलवारका कबजा तो सभी लोग पकड़ते हैं । हाँ और जब आप लिखते हैं तब कलमके किस ओरसे लिखते हैं ।

विजित—आगेकी ओरसे ।

बा०—जिधरसे उसे स्याहीमें डुबाते हैं ?

विजित—हाँ ।

बा०—इसमें भी कोई विशेषता नहीं हुई । इस तरह आप बहुत ही साधारण आदमी ठहरे । आपमें कोई गुण न निकला । अब देखिए कि मैं खुशामद करके आपको कितना बढ़ा देता हूँ । यदि मैं कहूँ कि आप देखनेमें बड़े ही सुन्दर हैं तो आप किसी प्रकार विश्वास न करेंगे । चटसे कह बैठेंगे कि इसका कोई मतलब होगा । आप जानते हैं कि मैं इस बातको किस तरह शुरू करूँगा ?

विजित—किस तरह ?

बा०—पहले तो मैं बराबर आपके मुँहकी ओर देखता रहूँगा और जब आप मेरी ओर देखने लगेंगे तब मैं अपनी आँखें नीचे कर लूँगा । इसके बाद, किसी आदमीसे आपके सामने यह कहलाना होगा कि मैं कहता था कि आप देखनेमें बिलकुल नवकार्तिक मालूम होते हैं । इस प्रकारके जितने ही उत्तरसाधक मैं एकत्र कर सकूँगा मेरी उतनी ही जीत होगी ।

विजित—ये कौन लोग आ रहे हैं ।

विजय—वे सब लोग फिर आ रहे हैं ।

[प्रजावर्गका प्रवेश ।]

विजित—ये लोग कौन हैं ?

विजय—राज्यकी प्रजा ।

पहला आदमी—आप चाहे जो कहें, पर हम लोग आपको नहीं छोड़ेंगे ।

दू० आ०—हम लोगोंको छोड़कर आप कहाँ जायँगे ?

ती० आ०—आप यहीं रहिए । देखें तो कौन आपको देशसे निकालता है !

विजय०—भाइयो—

चौ० आ०—हम लोग आपको नहीं छोड़ेंगे।

पाँ० आ०—आप जायँगे कहाँ।

दू० आ०—हम आपको राजा बनावेंगे।

पह० आ०—आप ही बंगालके महाराज हैं। हम और किसीको राजा नहीं मानते।

विजय०—भाइयो! पिताजीकी आज्ञा—

ती० आ०—हम कुछ नहीं जानते।

चौ० आ०—हम लोग आपको नहीं जाने देंगे। साफ बात है।

विजय०—महाराजकी आज्ञा है—

पाँ० आ०—हमारे महाराज आप ही हैं। हम और कोई राजा नहीं जानते।

सब लोग—जय! महाराज विजयसिंहकी जय!

विजय—भाइयो! पहले मेरी बात सुन लो। इसके बाद जो कुछ तुम लोगोंके मनमें आवे सो करो।

पाँ० आ०—अच्छा कहिए।

विजय०—भाइयो! भगवान् रामचन्द्र पिताकी आज्ञासे बन गए थे! पुरुने अपने पिताका बुढ़ापा स्वयं ले लिया था। पिताकी आज्ञा चाहे न्यायपूर्ण हो और चाहे अन्यायपूर्ण; पुत्रको उसपर विचार कर-नेका अधिकार नहीं है। पुत्रको पिताकी आज्ञाके सामने सिर ही झुकाना पड़ेगा। यही संसारका नियम है। पुत्र जिस दिन पिताका न्याय करने बैठेगा उस दिन सूर्य्य पश्चिममें उगने लगेगा, संसार उलट जायगा, मनुष्य फिर पशुत्वकी ओर बढ़ेगा; घरमें अशान्ति और राज्यमें अराजकता फैल जायगी, संसारमें उच्छृंखल अहंकार छा जायगा। पिता परम गुरु हैं। जो हमें इस सुन्दर संसारमें लाए हैं, जिनके कारण हम

यह नीला आकाश, प्रभातकी यह अरुण छटा, मनुष्यका स्वर्गीय मुख-मंडल देखनेके योग्य हुए हैं, जिनकी कृपासे हमने माताके मधुर स्नेहका अनुभव किया है, जो बाल्यावस्थामें पालक, यौवनमें शिक्षक, दुःखमें बन्धु, पीड़ामें वैद्य, विपद्में सहायक और दीनतामें आश्रय होते हैं और वृद्धावस्थामें जिनका स्नेहपूर्ण मुख फिर देखनेको नहीं मिलता, वे जितने दिनोंतक हैं—चाहे वे पागल हों और चाहे मत्त हों—उतने दिनोंतक वे परम गुरु हैं, उनकी आज्ञा ईश्वरकी आज्ञा है। मैं पिताकी आज्ञाका पालन करूँगा। उस आज्ञा-पालनमें यदि मेरी आँखोंमें जल आ जाय तो मैं रोरोकर अपने आँसुओंसे पृथ्वीको डुबा दूँगा। अगर कलेजा टुकड़े टुकड़े हो जाय तो हो जाय। मैं पिताकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करूँगा। करनेसे पाप होगा। और तुम लोग यदि मुझसे पिताकी आज्ञाके उल्लंघन करनेके लिये कहोगे तो तुम लोगोंको भी पाप होगा।

पह० आ०—युवराज आप ठीक कहते हैं। पाप होगा। जरूर पाप होगा।

दू० आ०—तब फिर हम लोग देश छोड़कर आपके साथ चलेंगे।

विजय०—यह क्या !

ती० आ०—हम लोग आपको छोड़ेंगे नहीं।

विजय०—तुम लोग कहाँ जाओगे ?

चौ० आ०—महाराज, जहाँ आप जायँगे।

विजय०—मैं महाराज नहीं हूँ।

चौ० आ०—हम लोग और किसीको राजा नहीं मानते। यहाँ न हो तो चलिए और कहीं चले चलें। वहाँ नया राज्य खड़ा करेंगे और आपको वहाँका राजा बनायेंगे।

विजय०—किन्तु—

पाँ० आ०—हम लोग नहीं सुनेंगे। कोई बात नहीं सुनेंगे। हम भी आपके साथ जायँगे महाराज !

विजय०—विजित ! तुम इन लोगोंको समझाओ।

विजित—हम समझते हैं, हम भी आपके साथ जायँगे।

विजय०—सो क्यों ?

अनुरोध और उरुवेल—हम लोग भी चलेंगे।

विजय०—तुम सब लोग क्या कह रहे हो ?

बा०—युवराज आप इन लोगोंकी बातोंमें न पड़िएगा। इन लोगोंने यह षड्यंत्र किया है।

सब लोग—हम लोग आपको नहीं छोड़ेंगे। आपके साथ चलेंगे।

बा०—पर यदि तुम लोगोंकी स्त्रियाँ भी यही हठ कर बैठें कि हम तुमको नहीं छोड़ेंगी—नहीं जाने देंगी—तो ?

विजय०—बाल-बच्चोंको छोड़कर ये लोग कैसे जायँगे ?

बा०—हाँ यदि युवराज अपनी स्त्रीका कोई ध्यान नहीं रखते तो तुम लोग तो अपनी अपनी स्त्रियोंका ध्यान रखते हो।

पह० आ०—वे सब भी साथ चलेंगी !

दू० आ०—हम लोग सपरिवार चलेंगे।

बा०—यह बात बहुत अच्छी है। युवराज अब आपके आपत्ति कर-नेसे कुछ न होगा।

विजय०—अच्छा भाई चलो; लेकिन—

बा०—अब इसमें लेकिन वेकिन कुछ नहीं।

विजित—आजतक यह कभी देखा या सुना नहीं था कि राज्यकी प्रजा युवराजके साथ इतना प्रेम करे ! भइया आप सचमुच महाराज

हैं । आप मनुष्योंके हृदय-राज्यके राजा हैं । इतना बड़ा राज्य और किसका है ?

बा०—अच्छा, तो आओ भाइयो, समुद्रमें जहाज छोड़ दें !

आठवाँ दृश्य ।

स्थान—समुद्रका किनारा ।

सिंह०—वह देखो जहाज जा रहा है । विजय ! विजय ! लौट आओ बेटा !

सुमित्र—भइया ! भइया !

(जहाज अदृश्य हो जाता है ।)

तीसरा अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—समुद्रमें जहाज जा रहा है ।

समय—सवेरा ।

[जहाजपर कुवेणी अकेली खड़ी है ।]

कुवेणी—इस लहराते हुए समुद्रमें यह दिगन्तविस्तृत क्षारजल भरा हुआ है । प्रकृतिका कैसा घोर अपव्यय है ! तो भी—

[मल्लाह आता है ।]

कुवे०—क्यों जी, क्या हम लोग कुमारिका अन्तरीप पीछे छोड़ आए ?

म०—कुछ समझमें नहीं आता ।

कुवे०—आखिर क्या मालूम होता है ?

म०—पीछे तो नहीं छोड़ आ सकते । सेतुबन्धसे हम लोग बराबर उत्तरकी ओर चले आ रहे हैं । कुमारिकाको तो पीछे नहीं छोड़ आ सकते ।

कुवे०—तो फिर अबतक किनारा क्यो नहीं मिलता ?

म०—कुछ समझमें नहीं आता । अब तो पीनेका पानी भी नहीं रह गया ।

कुवे०—क्यों जी, जो लोग उस पार रहते हैं वे यक्ष हैं या राक्षस ?

म०—नहीं वे लोग मनुष्य हैं ।

कुवे०—मनुष्य ? वे मनुष्य देखनेमें कैसे होते हैं ?

म०—होते तो हम ही लोगोंकी तरह हैं, पर उनके चेहरेमें कुछ फ़रक होता है ।

कुवे०—अच्छा तो किनारेकी तरफ चलो, मैं उन्हीं मनुष्योंको देखूँगी।

म०—हाँ, किनारेकी तरफ तो हम भी जाना चाहते हैं। लेकिन किनारा तो कहीं मिलता ही नहीं।

कुवे०—बादल घिरे आ रहे हैं।

म०—हाँ, मालूम होता है कि आँधी आवेगी। (दूसरी ओर जाता है।)

कुवे०—हवा जोरोंसे चलने लगी। काले मेघोंकी छाया समुद्रपर पड़ रही है। वाह कैसा विराट्, कैसा भीम और कैसा सुन्दर दृश्य है। देखो कैसी लहरें उठ रही हैं। एक एक लहर छोटा पहाड़ जान पड़ती है। यह उनका कैसा भयंकर ताण्डवनृत्य है। मल्लाह लोग गा रहे हैं। उनके साथ मैं भी गाऊँ।

जोगिया—आसावरी।

बोलो, कौन रहत उस पार।
इस वारिधिमें हमें नहीं कुछ सूझे वारापार॥
हा! सागरकी झनझन ध्वनि है उठती चारों ओर।
फणा उठा अहिकी श्वासा-सम वायु चली है घोर॥
बिजली चमक रही है, पावक खेल रहा चिनगार।
वज्र-पातका भी रव होता, गिरती मूसलधार॥
बोलो, कौन रहत उस पार॥

वाह! क्या गाना है! क्या संगीत है! हृदय नाच उठता है। “बोलो, कौन रहत उस पार”—उत्तर दो!—हैं! यह क्या! सब मल्लाह चिल्लाने क्यों लगे?

[मल्लाह आता है।]

कुवे०—क्या है? तुम लोग चिल्लाते क्यों थे?

म०—आप क्यों चिल्ला रही थीं ? क्या डर गई थीं ?

कुवे०—डर ? काहेका डर ? तुम लोग नहीं चिल्लाते थे ?

म०—हैं यह क्या ! जहाज क्यों घूमने लगा ?

कुवे०—क्यों घूमने लगा ?

म०—कुछ समझमें नहीं आता । शायद यह भँवरवाली आँधी है । अरे यह क्या हुआ !

कुवे०—क्या हुआ ?

म०—हम लोग बीच समुद्रमें भँवरमें पड़ गए । मालूम होता है कि बस—अब न जाने भाग्यमें क्या लिखा है ! (जल्दीसे जाता है ।)

कुवे०—चारों ओर कैसी भयंकर तरंगें उठ रही हैं और भीषण कल्लोलें ताण्डव नृत्य कर रही हैं ! मालूम होता है कि शेषनाग अपने करोड़ों फन फैलाकर और उन्हें अपनी साँसोंमें लपेटकर फुफकार रहे हैं।

[मल्लाह फिर आता है ।]

म०—सरकार !

कुवे०—क्या है ?

म०—मालूम होता है कि अब हम लोग नहीं बचेंगे । भगवानका नाम लीजिए । जो इस अनन्त समुद्रका कर्णधार है उसीको याद कीजिए ।

कुवे०—उसीको तो मैं भी बुला रही थी ।

म०—किसको ?

कुवे०—जो उस पार है उसको । उसको पुकारती थी—यदि उस-पारसे कोई उत्तर दे ।

म०—उधरसे कौन उत्तर देगा ?

कुवे०—यदि कोई दे । यदि कोई उत्तर देता तो कैसी अच्छी बात होती ! इधरसे उधर आवाज देते हैं, उधरसे इधर आवाज देते हैं और

बीचमेंसे भयंकर तरंगें चली जाती हैं! दोनों तरफके लोग एक दूसरेकी बात सुनते हैं लेकिन कोई एक पैर आगे नहीं बढ़ सकता। तुम्हें याद है? एक दिन मैंने और आवाज दी थी। उस दिन इस पारसे आवाज दी थी—

(नेपथ्यमें मल्लाहोंका चिल्लाना ।]

म०—लो वे फिर चिल्लाये! मैं जाता हूँ! (जाता है।)

कुवे०—उस पार कौन है—मैं आज समुद्रके बीचमेंसे बुला रही हूँ। इस अन्धकारमें, इस अथाहमें, इस तटहीनमें, इस विपत्तिमें, समुद्रके इस भयंकर गर्जनमें, मृत्युके समान परित्यक्त इस भीषण एकान्तमें, मैं आवाज देती हूँ कि उस पार कौन है? उत्तर दो।

म०—नाव डूबी!

कुवे०—यदि डूबती है तो डूबने दो।

म०—अब मरे!

कुवे०—अच्छी बात है। यही तो मैं चाहती हूँ! कुवेणी कहीं एक साधारण बालिकाकी तरह घरमें बिछौनेपर पड़ी पड़ी, छोटी, तुच्छ और साधारण मौत मरेगी? उससे बढ़कर इस उदार आकाशके नीचे, उदार समुद्रकी छातीपर, इस प्रकाण्डनृत्यमें हिलती, डुलती यह प्रलय-संगीत सुनती सुनती और गीत गाती गाती मरेगी। मैं भी गाऊँ—

बोलो कौन रहत उस पार।
हम नव-पथिक बाट नहिं जानत, टेरत बारंबार॥ बोलो॥

उस पार कोई नहीं है। नहीं तो आवाज सुनते ही अवश्य आता!

म०—मालूम होता है कि वह सामने एक और जहाज है। हाँ, जहाज ही तो है।

कुवे०—तब तो उसने मेरी आवाज सुन ली। वह देखो आ रहा है। मुझे लेनेके लिये मेरा वर आ रहा है। अवश्य वह मेरा वर ही है।

गलेमें माला, हाथमें माला, चन्दन-चर्चित ललाट, पीली पोशाक, नूपुर-झंकार—बस मेरा वर आ रहा है।

म०—और थोड़ा पास। और थोड़ा पास।

(नेपथ्यमें मल्लाह—और सँभलके और सँभलके।)

म०—नाव डूबी ! और थोड़ा इधर और थोड़ा इधर।

कुवे०—यही है ! यही है ! यही मेरा वर है। वह जहाजके मस्तूलपर खड़ा हुआ चारों ओर देख रहा है। देख लिया, इधर देख लिया। अब डर नहीं है। वर आगया। बाजा बजाओ।

(नेपथ्यमें—" और सँभलके, और सँभलके। ")

दूरसे विजय०—अब डर नहीं है—

कुवे०—बस मेरा वर आ गया है ! मैंने उसकी आवाज सुन ली।

(जहाज परसे कूद पड़ती है।)

म०—अरे यह क्या किया ?

(दूसरे जहाज परसे विजयसिंह समुद्रमें कूद पड़ते हैं।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—समुद्रमें जहाज जा रहा है।

समय—सवेरा।

[उरुवेल अकेले खड़े हैं।]

उरु०— आँधीका जोर खूब बढ़ रहा है। उसने सारे समुद्रको खलबला दिया है। अब रक्षा नहीं है। चारों ओर बादल घिर रहे हैं–ओह !

[अनुरोधका प्रवेश।]

अनु०—उरुवेल ! उरुवेल ! विजयसिंह कहाँ हैं ?

उरु०—अपने कमरेमें होंगे।

अनु०—वहाँ तो नहीं हैं ।

उरु०—असम्भव ।

अनु०—नहीं, आओ देखो ।

उरु०—तब क्या हुए ?

अनु०—बहुत ढूँढ़ा नहीं मिलते । (दोनों जल्दीसे जाते हैं ।)

(दोनों जल्दीसे जाते हैं ।)

[विजित और बहुतसे सिपाही आते हैं ।]

विजित—कहीं नहीं मिले ?

सिपाही—कहीं नहीं ।

विजित—खूब अच्छी तरह देखो । जहाजका कोना कोना देख डालो । यदि तब भी न मिलें तो जहाजका पेंदा चीरकर देखो । जिस तरह हो भइयाको लाओ ।

पह० सि०—सब जगह तो ढूँढ़ चुके । अब कहाँ ढूँढ़ें ?

विजित—जाओ ढूँढ़ो । जो कहता हूँ सो करो । नहीं तो यह तलवार देखते हो ?

सि०—आप तलवारका क्या भय दिखलाते हैं ? (तलवार खींचता है ।)

दूसरे सैनिक—खबरदार (तलवार निकालते हैं ।)

दूस० सि०—साहब, हमने सब जगह ढूँढ़ डाला ।

विजित—सब जगह ढूँढ़ डाला तो फिर मेरे साथ आओ, समुद्रके जलमें ढूँढ़ें । (तलवार फेंककर जल्दीसे जाना चाहते हैं ।) हैं ! यह तो भइयाकी आवाज मालूम होती है ! यह तो समुद्रके जलमेंसे आवाज आ रही है । गए, विजयसिंह समुद्रमें डूब गए । जिसे मेरे साथ जलमें कूदना हो वह आवे । (पागलोंकी तरह निकलते हैं ।)

ती० सै०—गजब हो गया । विजित पागल हो गए। पकड़ो। पकड़ो। (पीछे दौड़ता है।)

चौ० सै०—यह महाराजकी आवाज सुनाई पड़ती है! फिर सुनाई पड़ी। यह क्या भूतोंकी सी लीला है! फिर आवाज आई—

[विजितको पकड़े हुए अनुरोध और उरुवेलका प्रवेश।]

अनु०—चित्तको शान्त कीजिए। इस अन्धेरेमें, इस तूफ़ानमें आप विजयको ढूँढनेके लिये समुद्रमें कूदने जा रहे हैं!

विजित—मैंने उनका स्वर सुना है। वे समुद्रके नीचेसे बुला रहे हैं! यह सुनो, आवाज आती है! मैं उनकी रक्षा करूँगा, छोड़ दो। (छुड़ानेकी चेष्टा करते हैं।)

उरु०—कैसा जोरोंका शब्द होता है! कैसी भीषण आँधी है! आजका प्रभात तो बिलकुल प्रलयका है। छिः! आप बात तो सुनिए।

विजित—छोड़ो, कायर, विद्रोही। सुनते नहीं हो? इतने जोरकी आवाज भी तुम्हें सुनाई नहीं पड़ती?

(सब लोग चुपचाप कान लगाकर आवाज सुनते हैं।)

नेपथ्यमें—रस्सी फेंको! जल्दी—रस्सी फेंको!

अनु०—हाँ, हाँ, यही तो—

उरु०—हाँ हाँ! माझी! (प्रस्थानोद्यत) चलो! चलो!

(सब लोग जाते हैं)

[गीले कपड़ोंसे युक्त विजय और सैनिकोंका प्रवेश। कन्धे पर एक बेहोश लड़की, जिसके कपड़े गीले हैं।]

विजय०—भाइयो! देखो! देहको बचा लाया हूँ। मगर मालूम होता है कि यह मर गई है।

सब लोग—कौन है यह?

विजय०—इस बेचारीका जहाज डूब गया और उसके सब माझी भी डूब गए ।

सब—हैं ! क्या हुआ ! क्या हुआ !

विजय०—ठहरो, शोर मत करो । पूरी बात सुनो । उस जहाजपरके सब लोगोंमेंसे सिर्फ यही लड़की बची है । मालूम नहीं कि जीती है या मर गई । तौ भी मैने इसे समुद्रमेंसे निकाला है । और किसीको मैं नहीं बचा सका ।

विजित—तब आप इतनी देरतक—

विजय०—ठहरो, बतलाता हूँ । मैं मस्तूलपर चढ़कर समुद्रका यह तूफान देख रहा था और उसका गम्भीर गर्जन सुन रहा था । उसी गर्जनमें मुझे किसी दुखियाकी चिल्लाहट सुनाई पड़ी । वह चिल्लानेकी आवाज दूरके एक जहाज परसे आ रही थी । मैंने चटपट नीचे उतरकर चार माझियोंको बुलाया और एक नाव लेकर मैं उस जहाजकी तरफ चल पड़ा । लेकिन हमारी नाव अभी आधे ही रास्तेमें थी कि वह जहाज डूब गया । आँखोंके आगे अँधेरा छा गया । समुद्र हम लोगोंके चारों ओर झूमता हुआ तालियाँ बजाता और अट्टहास करता था । इतनेमें हमारी नावमें कोई चीज आकर लगी । देखा तो यही स्त्री थी । मालूम न हुआ कि मर गई या जीती है ।

(सब लोग उस स्त्रीको देखते हैं । कोई कहता है—"जीती है"
कोई कहता है— "मर गई" ।)

विजित—नहीं, जीती है । यह देखो पलकें हिलती हैं ।

विजय०—देखो, तुम सब लोग इसको होशमें लानेका प्रयत्न करो । मैं इसे किसके भरोसे छोड़ जाऊँ ?

बालक—युवराज ! इसे आप मेरे पास छोड़ जाइए । मैं शुश्रूषा करके इसे बचा लूँगा । मेरे समान शुश्रूषा और कोई न कर सकेगा ।

विजय०—तुम तो अभी बालक हो।

बा०—यह भी बालिका है । युवराज, आप जाइए । गीले कपड़े बदल आइए। तुम सब लोग भी जाओ।

विजय०—लेकिन—

बा०—युवराज, कोई चिन्ता नहीं है । आप मुझपर विश्वास कीजिए—जाइए ।

(कुवेणी और बालकके सिवा सब लोग चले जाते हैं ।)

बा०—यह तो बड़ी ही सुन्दरी—अपूर्व सुन्दरी है ! घने–काले भीगे हुए बालोंकी चोटी वटकी जटाके समान पीठपरसे होकर घुटनोंके नीचेतक पहुँच गई है। शीशेके समान साफ और चमकता हुआ ललाट मानो नौकरोंको मालिकके समान आज्ञा दे रहा है । बड़ी बड़ी आँखें सन्ध्या समयके कमलके दलोंके समान मुँदी हुई हैं। कौन कह सकता है कि इनके अन्दर कैसी दृष्टि छिपी हुई है ! उठी हुई सीधी, लम्बी नाक। उसके नीचे होंठोंमें राजसी दर्पसे युक्त हास्य छिपा हुआ है। उसके नीचे ठोढ़ी–मानों सुधा-पात्रके समान उस विगलित हास्यको ग्रहण करनेके लिये तैयार है। ऊँची और टेढ़ी गर्दनसे इस समय भी अभिमान प्रकट हो रहा है। सिकुड़े हुए गीले कपड़ोंके नीचे इसका गोरा बदन उसी तरह सोया हुआ है, ज़िस तरह बादलोंसे घिरा हुआ प्रातः-काल। यह लो, सूर्य्य निकल रहा है, उसकी स्वर्णमयी किरणें इस समुद्रपर पड़ने लगीं! आँखें उन्मीलित हो रही हैं। सूर्य्य निकल रहा है, अब क्या ये दोनों आँखें बन्द रह सकती हैं ?

कुवेणी—मैं कहाँ हूँ ?

बालक—बहन, तुम डरो नहीं । यहाँ तुमपर कोई आपत्ति नहीं आ सकती।

कुवेणी—तुम कौन हो।

बालक—चिन्ता मत करो। उठ सकती हो ? (कुवेणी उठती है।)

बालक—आओ, चलें।

कुवे०—कहाँ ?

बालक—मेरे साथ आओ। कोई चिन्ताकी बात नहीं है। आओ।

(दोनोंका प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य।

स्थान—बंगालके महाराज सिंहबाहुका राजमहल।

समय—प्रभात।

[सिंहबाहु और सुरमा।]

सिंह०—सुरमा ! विजयकी कोई खबर नहीं मिली ?

सुर०—नहीं पिताजी !

सिंह०—"नहीं पिताजी" बस रोज यही एक ही उत्तर कि—"नहीं पिताजी"—लेकिन नहीं इसमें तुम्हारा दोष ही क्या है ? दोष हमारा ही है !—जाओ, सुमित्रको यहाँ भेज दो।

सुर०—पिताजी !

सिंह०—(कड़ी आवाजसे) जाओ।

(सुरमा जाती है।)

सिंह०—परम स्नेहवान् पुत्रको देशसे निकालकर बड़े आनन्दमें हैं। पुत्रने सिर झुकाकर अपना दोष स्वीकृत किया था, क्षमा माँगी थी।—पर हमने उसे क्षमा नहीं किया। घरसे कुत्तेकी तरह दुतकार कर निकाल दिया। क्रोध भी कैसा विषम शत्रु है ! कैसा अन्ध है ! इस घने अन्धकारसे भी बढ़कर अन्ध है—विजय ! विजय !

[सुमित्रका प्रवेश ।]

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—कौन ? सुमित्र ?

सु०—पिताजी, आपने मुझे बुलाया है ?

सिंह०—बुलाया था—हाँ बुलाया था । लेकिन नहीं, तुम चले जाओ

सु०—पिताजी !

सिंह०—चले जाओ ! लौट जाओ ।

(सुमित्रका चुपचाप सिर झुकाकर खड़े रहना ।)

सिंह—नहीं नहीं, इसमें तुम्हारा ही क्या अपराध है ? तुम क्या करोगे ? अरे, पशु भीतरसे फिर गरजने लगा ? ठहर जा ।—नहीं सुमित्र ! तुम्हारा इसमें कोई अपराध नहीं है । दोष हमारा ही है ! सुमित्र ! विजय तुम्हें प्यार करते थे ?

सु०—हाँ पिताजी, प्यार करते थे । वे मुझे बहुत प्यार करते थे ।

सिंह०—हमें भी बहुत प्यार करते थे । वे मुझे जितना चाहते थे शायद और कोई पुत्र अपने पिताको उतना न चाहता होगा । ऐसे पुत्रको हमने देशसे निकाल दिया । वह सुन्दर, वह महत्, वह उन्नत ललाट, वह शौर्य्य—चौड़ी छाती—वह उदार ! ऐसे पुत्रको—विजय ! विजय !!

सु०—पिताजी ! (हाथ पकड़ लेता है)

सिंह०—नहीं, तुम क्या करोगे ? तुम्हारा दोष नहीं है । (कुछ कुछ आप ही आप) उसके बदलेमें यह भीरु, यह चकित-दृष्टि, यह नारी-कोमल, लोल मांस-पिण्ड, यह असार ! नहीं, तुम्हारा इसमें दोष ही क्या है ! दोष हमारा है, हमारा है, हमारा है ! (छातीपर हाथ मारना ।)

सु०—पिताजी ! यह क्या कर रहे हैं ?

सिंह०—हट जाओ—नहीं नहीं, यह हम क्या कर रहे थे ? नहीं नहीं, राजकुमार ! तुम्हारी तलवार कहाँ है ?

सु०—यह मेरे पास है ।

सिंह०—निकालो ।

(सुमित्र म्यानसे तलवार निकालता है ।)

सिंह०—आओ, तुम्हें तलवार चलाना सिखा दें । (सिखाते हैं ।) इसप्रकार सिरकी रक्षा की जाती है । इसप्रकार हाथ चलाते चलाते सिर बचाकर फिर इसतरह घूम जाना चाहिए । घूम जाओ । नहीं—ठीक नहीं हुआ । हाँ, अब ठीक हुआ । अब इसके बाद—

सु०—पिताजी ! पैरोंकी रक्षा किसतरह की जाती है ?

सिंह०—पैरकी रक्षा नहीं की जाती । पैर दो होते हैं, अगर एक कट भी जाय तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन सिर सिर्फ एक ही होता है । शत्रुका प्रधान लक्ष्य तुम्हारा सिर ही रहता है ।

सु०—सिर ही ?

सिंह०—हाँ, यही सिर ! पैर कट जाय तो लकड़ीका पैर लग जाता है । लेकिन अगर सिर कट जाय तो लकड़ीका सिर नहीं लग सकता । सिर बचानेके बाद फिर सब—

सु०—शत्रुपर इसीतरह आक्रमण किया जाता है ?

सिंह०—हाँ, लेकिन अपना सिर बचाकर ।

सु०—पिताजी ! आपने उस दिन कहा था न कि अपनी रक्षा इसप्रकार करनी चाहिए, जिसमें उसीसे सहजमें शत्रुपर वार हो सके ।

सिंह०—वह सब ठीक नहीं बतलाया था—वह सब भूल जाओ । अब नया ढंग सिखलाते हैं । इस तरह—इस तरह ।

[सुरमा आती है ।]

सुर०—पिताजी ! पिताजी !

सिंह०—इसके बाद तलवार इस तरह—

सुर०—पिताजी ! भइयाकी खबर मिली है ।

सुमि०—पिताजी ! सुनिए, बहन क्या कहती है ।

सुर०—भइया अच्छी तरह जीते जागते हैं ।

सुमि०—पिताजी ! सुनिए, भइया जीते-जागते हैं !

सिंह०—झूठ !

सुर०—नहीं पिताजी, झूठ नहीं । वे—

सिंह०—कहते हैं, चली जाओ ।

(सुरमा चली जाती है ।)

सिंह०—हाँ, चलो । खड़े क्यों हो गए ?

सुमित्र—पिताजी—

सिंह०—सिर बचाओ, नहीं तो अभी मार डालेंगे ।

सुमि०—मार डालिए (तलवार फेंक देता है ।)

सिंह०—समझते हो कि हम मार न सकेंगे ? उन्होंने हमारे पैर पकड़कर माफी माँगी थी । हमने बाप होकर भी लात मारकर उन्हें हटा दिया । अरे बेवकूफ लड़के ! जानता है, हम कौन हैं ! हम हैं सिंहबाहु। हमारे पिता सिंह थे । जानते हो ? सिंह अपनी सन्तानका लहू पीता है। लो, तलवार लो और वीरोंकी तरह लड़ते लड़ते मरो ।

सुमित्र—(हाथ जोड़कर) पिताजी !

सिंह०—चुप रहो । तुम समझते हो कि हमें दया आ जायगी ? विजयने भी इसी तरह " पिताजी पिताजी " कहा था । पर कुछ भी न हुआ । हमारा नाम सिंहबाहु है । लो, तलवार लो ।

[मंत्रीका प्रवेश।]

मंत्री—महाराज !

सिंह०—मंत्री !

मंत्री—महाराज (अभिवादन करता है।)

सिंह०—वैद्यराजको बुलाओ, युवराजको विकार हुआ है। अब मृत्युमें अधिक विलम्ब नहीं है। (कड़ी आवाजसे) जाओ।

(मंत्रीका प्रस्थान।)

सुमित्र—हे भगवान् ! इतने स्नेहमय पिता ! इतने स्नेहमय ! उन्हें पागल मत करो। भइयाको फिर यहाँ ले आओ। मेरे अभिमानी, महत् उदार भइयाको लौटा दो। बड़े अभिमानी—लेकिन बड़े स्नेहमय ! भगवान् ! (गला रुँध जाता है) पिताजी ! आप मुझे मार डालिए, मगर अपने होश हवास मत खोइए। (सिंहबाहुके गलेसे लिपटकर) पिताजी ! आप मुझे मार डालना चाहते हैं ?

सिंह०—(तलवार फेंककर) आओ, बेटा गोदमें आओ। अहा ! कैसा शीतल स्पर्श है ! मेरी पशुवृत्ति पानी हो गई ! अरे अबोध बालक ! जानता है, मेरे मनमें क्या हो रहा है—मैंने विजयको लात मारकर निकाल दिया—ओ हो हो हो ! (रोना) एक वह दिन था जब कि हम पलभर उन्हें नहीं देखते थे तो मालूम होता था कि हमारा बच्चा नहीं है; और क्षणभरके बाद ही जब उन्हें फिर देखते थे तो मालूम होता था कि खोया हुआ धन फिर मिल गया। विजय हमारे खाली लड़के तो थे ही नहीं, वे तो हमारे साथ खेले हुए थे, हमारे प्राणोंके प्राण थे। उन्हें हमने कुत्तेकी तरह दुतकार दिया। ओ हो हो हो हो !

[सेनापतिका प्रवेश।]

सेना०—महाराज ! भैरव डाकू पकड़ा गया।

सिंह०—सूलीपर चढ़ा दो।–नहीं, उसने विजयको बचाया है उसको खूब पेट भर खिलाकर छोड़ दो।

सेना०—वह एक बार महाराजके दर्शन करना चाहता है।

सिंह०—क्यों ?

सेना०—कुछ कहना चाहता है।

सिंह०—किस विषयमें ?

सेना०—महारानीके सम्बन्धमें।

सिंह०—नहीं, कोई जरूरत नहीं।

सेना०—विजयसिंहके विषयमें—

सिंह०—चलो। (प्रस्थान।)

सुमित्र—पिताजीकी यह दशा कैसे हो गई ? (घुटने टेककर) भगवान् ! पिताजीको बचाओ। भइयाको फिर यहाँ ले आओ।

[रानीका प्रवेश।]

सुमित्र—माँ !–माँ !

रानी—सुमित्र ! महाराज कहाँ है ?

सुमित्र—मालूम नहीं। माँ, पिताजीको क्या हो गया हैं ?

रानी—अभी तो वे यहीं थे न ?

सुमित्र—हाँ थे तो सही। सेनापति आए थे, वे यह कहकर उन्हें ले गए कि भैरव डाकू आया है। माँ, तुम इस तरह क्यों देख रही हो ?

रानी—तब क्या हुआ ?

सुमित्र—उसके बाद पिताजी एकाएक उनके साथ चले गए।

रानी—गजब हो गया !—

सुमित्र—क्यों क्या हुआ ?

रानी—उन्हें यहाँसे गए कितनी देर हुई ?

सुमित्र—अभी गए हैं । माँ, पिताजी ऐसे क्यों हो गए ?

रानी—मैं नहीं जानती । (जल्दीसे प्रस्थान ।)

सुमित्र—आश्चर्य्य !

[मंत्री और वैद्यका प्रवेश ।]

मंत्री—राजकुमार ! महाराज कहाँ हैं ?

सुमित्र—मंत्री महाशय ! आप जानते हैं, पिताजीको एकाएक यह क्या हो गया ?

वैद्य—राजकुमार ! हाथ दिखलाइए ।

सुमित्र—(हाथ आगे बढ़ाकर) क्यों ?

(वैद्यराज नाड़ी देखते हैं ।)

वैद्य०—जीभ दिखलाइए ।

(सुमित्रका जीभ दिखलाना ।)

वैद्य—हाँ, यही तो !

मंत्री—आपने क्या देखा ?

वैद्य—अवस्था अच्छी नहीं है ।

मंत्री—क्यों, क्यों ? क्या हुआ है ?

वैद्य—(करुणभावसे सिर झुकाकर) राजकुमार, आपकी अवस्था अच्छी नहीं है ।

सुमित्र—क्यों ?

वैद्य—रातको अच्छी तरह नींद तो नहीं आती होगी ?

सुमित्र—खूब नींद आती है ।

वैद्य—लेकिन जब एकबार नींद खुल जाती है तब फिर तो नींद नहीं आती न ? और–और भूख ?

सुमित्र—भूख भी खूब लगती है ।

वैद्य—हाँ, भूख तो खूब लगेगी ही। लेकिन जब भूख लगती है तब खानेकी भी इच्छा होती है ?

सुमित्र—हाँ।

वैद्य—यह और भी बुरी बात है। भूखके समय यदि खानेकी इच्छा हो तो और भी बुरा है। जरा एक बार और नाड़ी देखें। (नाड़ी देखकर) भइयाजी, आपको तो विकार है।

सुमित्र—कैसा विकार ?

वैद्य—ज्वर-विकार !

सुमित्र—मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम होता।

वैद्य—यही तो खराबी है। यदि आपको मालूम होता तब तो वह मामूली ज्वर होता। मालूम नहीं होता यही तो बुरी बात है।

सुमित्र—मुझे बुखार है ?

वैद्य—अरे भइया, हम वैद्य हैं। हम कहते हैं कि आपको बुखार है। आपने तो यह शास्त्र पढ़ा नहीं है।

सुमित्र—लेकिन—

वैद्य—इसमें तर्क न कीजिए। आपको ज्वर-विकार है। जाकर सोइए। हम औषधका प्रबन्ध कर देते हैं। आप जाकर सोइए।

नेपथ्यमें सिंहबाहु—(क्रोधसे) रानी कहाँ है—बुलाओ।

मंत्री—लो महाराज आ रहे हैं।

[क्रुद्धभावसे सिंहबाहुका प्रवेश।]

सिंह०—हैं ! यह क्या ! यहाँ राजमहलमें वैद्य ?

वैद्य—महाराजका अनुमान बहुत ठीक है। कुमारको विकार हुआ है !

सिंह०—पागल ! पागल !

वैद्य—हाँ, पागल ही समझिए। कुमार अण्ड-बण्ड बक रहे हैं।

सिंह०—मूर्ख, तुम खुद अण्ड-बण्ड बक रहे हो ।

मंत्री—वैद्यजी, क्या आप पागल हो गए हैं ?

वैद्य—महाराज !

सिंह०—निकाल दो !

मंत्री—महाराज !

सिंह०—पहले इसको बाहर निकाल दो तब बात करो।

वैद्य—मैं औषधका—

सिंह०—निकल जाओ ।

(वैद्यराजका प्रस्थान ।)

मंत्री—लेकिन महाराज वैद्यराजको—

सिंह०—तुम लोग हमें बिना पागल किए न छोड़ोगे । चले जाओ ।

(मंत्रीका प्रस्थान ।)

सिंह०—और तुम क्यों खड़े हो ? समझते हो कि राज्य मिलेगा ? राज्य नहीं मिलेगा, हम पहले ही राज्यको नष्ट कर देंगे—जलाकर राख कर देंगे और वही राख रानीके मुँहपर डालेंगे ।—नहीं नहीं, रानी कहाँ है ? रानी कहाँ है ? द्वारपाल !

[द्वारपालका प्रवेश ।]

सिंह०—रानीको खबर करो, कह दो कि हम अभी इसी समय मिलना चाहते हैं, अभी ।

(द्वारपालका प्रस्थान ।)

सिंह०—आज रानीका राज्य गया । रानी गई ! राजकुमार गए ! आज बेटा, हम और तुम हैं ।—हैं ! यह क्या ! हमारी पशु-प्रकृति अब फिर जाग उठी है—गरज रही है , नहीं बेटा ! कोई डर नहीं । खड़े रहो; जरा हम स्थिर हो जायँ । विचार करेंगे । (इधर उधर घूमते हैं ।)

हमने यह तो नहीं सोचा था। लेकिन क्यों नहीं सोचा था सो मालूम नहीं। लो यह रानी आगई !

[रानीका प्रवेश।]

सिंह०—खड़ी रहो। हमारे सामने खड़ी रहो। हाथ जोड़कर खड़ी हो।

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—चुप रहो। रानी ! इतने दिनोंके बाद तुम्हारा सारा षड्यंत्र खुल गया। रण-भेरीके स्वरमें वह षड्यंत्र आप ही आप बोल उठा।

रानी—षड्यंत्र !

सिंह०—तुम नहीं जानतीं ? पाप ऐसा सुन्दर चेहरा लगा सकता है ! आश्चर्य्य ! पापिनी !—नहीं हम भूलते हैं। धीर भावसे विचार करेंगे। जहाँतक हो सके—धीर भावसे ! हे विधाता। ऐसा करो कि दण्ड देनेसे पहले ही हम पागल न हो जायँ। द्वारपाल !

[द्वारपालका प्रवेश।]

सिंह०—जल्लादको बुलाओ।

(द्वारपालका प्रस्थान।)

सिंह०—आज तुम्हें कुत्तोंसे—नहीं नहीं, धीर भावसे विचार करेंगे। रानी ! खड़ी हो, हाथ जोड़ो, काँपो। जानती हो तुम्हारे विरुद्ध क्या अभियोग उपस्थित है ?

रानी—मेरे विरुद्ध !

सिंह०—हाँ, तुम्हारे विरुद्ध। ठहरो, जरा स्थिर हो लें। (इधर उधर घूमते हैं।) यह तो हमने पहले कभी नहीं सोचा था, परन्तु मालूम नहीं कि क्यों नहीं सोचा था। तुम खड़ी रहो। हमारे सामने अपराधियोंकी तरह हाथ जोड़कर खड़ी रहो। (पैर पटककर) खड़ी रहो।

(रानी हाथ जोड़कर सामने खड़ी होती है।)

सिंह०—सुनो, इस बातका प्रमाण मिला है कि तुमने हमारे पुत्र विजयसिंहके विरुद्ध षड्यंत्र रचा था । । तुम्हींने उनपर यह अभियोग लगाया था—

रानी—(आश्चर्य्यसे) मैंने ?

सिंह०—क्यों तुम्हें इतना आश्चर्य क्यों हुआ ?

रानी—मैंने कुमार विजयसिंहके विरुद्ध षड्यंत्र रचा था ?

सिंह०—हाँ ।

रानी—प्रमाण ?

सिंह०—प्रमाण चाहती हो ? द्वारपाल ! ब्राह्मणको बुलाओ ।

[ब्राह्मणका प्रवेश ।]

सिंह०—प्रमाण यही ब्राह्मण है । पण्डितजी ! किसने आपसे यह अभियोग उपस्थित करनेके लिये कहा था ?

ब्राह्मण—मंत्रीने ।

सिंह०—आपको मालूम है कि मंत्रीने किसकी सलाहसे ऐसा किया था ?

ब्रा०—हाँ, जानता हूँ ।

सिंह०—किसके कहनेसे ?

ब्रा०—महारानीके कहनेसे ।

सिंह०—(रानीसे) सुना ?

रानी—बहुत अच्छे ! महाराज ! यह एक दरिद्र भिक्षुक है । आप जरा शान्त हों । मैं इस विषयमें कुछ भी नहीं जानती ।

सिंह०—ठहरो, अभी और भी प्रमाण है । इसके बाद तुमने युवराजकी हत्या करनेके लिये मंत्रीको नियुक्त किया था ।

रानी—किस प्रकार ?

सिंह०—विष देकर ।

रानी—क्या इसका भी कोई प्रमाण है ?

सिंह०—उसका प्रमाण यह दरिद्र भिक्षुक नहीं—मंत्री है। मरते समय मंत्रीने हमारे सामने यह बात कही थीं। लेकिन उस समय मुझे विश्वास नहीं हुआ था। यह क्या ! तुम पत्थरकी मूरतके समान क्यों हो गई ?

रानी—इसके बाद ?

सिंह०—इसके बाद तुम स्वयं युवराजकी हत्या करने गई थीं। उसका प्रमाण भैरव डाकू है।

[भैरवका प्रवेश।]

सिंह०—उसका प्रमाण यही भैरव है।

(भैरवको उसके सामने खड़ा करते हैं।)

रानी—वाह क्या बात है ! बंगालकी महारानीके विरुद्ध अभियोग— महाराजके राजकुमारकी हत्याकी चेष्टा। और उसमें गवाह एक भिक्षुक, एक विश्वासघातक मंत्री और एक डाकू !—इसी बुद्धिसे आप इतना बड़ा राज्य चलाते हैं ? (लापरवाहीसे मुँह फेर लेती है।)

सिंह०—ठहरो। अभी हमारी बात पूरी नहीं हुई। हम फैसला करते हैं, सुनो। ब्राह्मण देवता ! आपकी कन्या गई और हमारा पुत्र गया। हम दोनों सम-दुःखी हैं। लेकिन क्या आप जानते हैं कि बंगालके युवराजके विरुद्ध झूठा अभियोग चलानेका क्या दण्ड है ? आप काँप क्यों रहे हैं ? आपको हम अधिक दण्ड न देंगे। आपको सिर्फ देशसे निकाल दिया। मंत्रीको तो अब दण्ड दिया ही नहीं जा सकता। और भैरव ! तुमने हमारे पुत्रकी रक्षा की है, इस लिये आजसे तुम हमारे राज्यके सेनापति हुए।

भैरव—महाराज मुझे क्षमा करें। मैंने शपथ की है कि मैं महाराजके हाथसे कोई पुरस्कार न लूँगा।

सिंह०—अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा—और रानी ! जानती हो कि बंगालके युवराजके प्राण लेनेके लिये षड्यन्त्र रचनेका क्या दण्ड है ?

रानी—प्राणदण्ड !

सिंह०—जल्लाद ! (जल्लादका आना ।) रानीको वध्य-भूमिमें ले जाओ । ले जाओ, हमारी आज्ञा है, ले जाओ ।

(जल्लाद रानीके हाथ बाँधता है ।)

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—क्या है सुमित्र ?

सुमित्र—पिताजी ! आप माताके प्राण न लें ।

सिंह०—अच्छा, तो तुम्हें प्राणदण्डके बदले दूसरा दण्ड देते हैं । जल्लाद ! लोहेकी गरम सींखसे इसको अन्धी करके नगरकी सड़कपर छोड़ दो । लेकिन पहले एक बार इसे हमारे पास ले आना । जरा देखेंगे कि इसका चेहरा कैसा हो जाता है । ले जाओ ।

(रानीको लेकर जल्लाद जाना चाहता है ।)

सिंह०—और सुनो, जरा इसकी जीभ भी काट लेना । स्त्रीकी जब तक जीभ रहे तब तक उसका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए । वह इतनी झूठी बातें कह सकती है !—जाओ ले जाओ । रानी ! तुमने मेरे परम प्रिय पुत्रको मुझसे छुड़ाया है; आँखें रहते भी तुमने मुझे अन्धा कर दिया है । इसके बदलेमें यदि हम—

सुमित्र—पिताजी ! आप माताको क्षमा कर दें ।

सिंह०—क्यों बेटा, तुम यह सोचते हो कि यह राज्य हम तुम्हें दे जायँगे ? यह ध्यान छोड़ देना । राजा तो दूर रहा, ऐसी राक्षसीके गर्भसे मनुष्य भी नहीं जनम सकता । तुम्हें भी उसके साथ ही निकाल देंगे । जाओ ।

सुमित्र—पिताजी ! आप क्रोधसे पागल न हो जायँ ।

सिंह०—क्रोधसे ! नहीं नहीं, हम क्या कर रहे हैं ? नहीं—कुछ नहीं। लेकिन आह !—जिसे हम रास्तेके कीचड़मेंसे उठा लाए, जिसे गुलाब-जलसे स्नान कराया, जिसे सिंहासनपर अपने पास बैठाया, उसका उचित प्रतिदान भी यही है ! हमने उचित दण्ड दिया है।

सुमित्र—देखिए, माता किस तरह बिलख बिलखकर रो रही हैं। माँ ! माँ ! (दौड़कर जाता है।)

सिंह०—वह—वह—अहा हा ! अरे बेचारीको अन्धी न करना, बेचारीको अन्धी न करना। (दौड़कर आगे बढ़ना और फिर रुक जाना) नहीं, जैसा कर्म्म है वैसा ही फल भी होना चाहिए ! आश्चर्य्य ! नहीं, और कुछ नहीं। पैरके आघातसे नींद खुल गई है।

(अन्धी रानीको लेकर जल्लादका आना।)

सिंह०—अन्धी कर दी ? (देखकर भयसे मुँह फेर लेना) अरे ! यह कौन ? यह रानी है ?—कितनी भयानक है ! दुःख ! लेकिन दुःख काहेका। अब हम दोनों अन्धे हैं। हम आँखें रहते भी अन्धे हैं और तुम !—हाः हाः हाः ! बहुत अच्छा हुआ। बहुत अच्छा हुआ पिशाची ! राक्षसी ! (बाल पकड़ते हैं।)

[सुरमाका प्रवेश।]

सुर०—पिताजी ! पिताजी ! यह आप क्या कर रहे हैं ?

सिंह०—क्यों ? क्या कर कर रहे हैं ? (बाल छोड़ देते हैं।)

सुर०—पिताजी ! क्या आप ऐसा भी कर सकते हैं ?

(सिंहबाहु लज्जासे सिर झुका लेते हैं।)

सुर०—पिताजी ! अब व्यर्थ क्रोध करनेसे क्या लाभ होगा ? भइयाको तो अब लौटकर पाओगे नहीं।

सिंह०—हमने क्या अन्याय किया ? हम राजा हैं, हमने विचार किया है ! यदि पुत्रके साथ रिआयत नहीं की तो रानीके साथ रिआयत

क्यों करें ? हम महाराज सिंहबाहु हैं । हमने बिना दोषके पुत्रको निर्वासित किया है । इस पिशाचीको ले जाओ । देशसे बाहर निकाल दो ।

सुर०—तो फिर पिताजी, मैं भी जाती हूँ ।

सिंह०—जाओ न, तुम्हें रोकता कौन है ?

सुर०—आओ, अभागिनी माँ । आज मैं तुम्हारे सब अपराध क्षमा करती हूँ । आजसे मैं तुम्हारी बेटी हुई । आओ माँ ।

(सुरमाका पिताको प्रणाम करके रानीको साथ लिए हुए जाना ।)

सिंह०—बस, बस । पुत्र गया, कन्या गई, स्त्री गई । राज्य जाए, और हम भी जायँ । बम् भोलानाथ !

चौथा दृश्य ।

स्थान—लंकाका समुद्रतट । **समय**—सन्ध्या ।

[विजय लेटे हैं । कुछ दूरपर समुद्रके किनारे बालक गा रहा है और विजय अधलेटे हुए उसका गाना सुन रहे हैं ।]

कजली ।

सखिरी वर्षाकी ऋतु आई, नभमें घिर आये घनघोर ॥ टेक ॥
देख अँधेरा फैल गया है, कैसा चारों ओर ॥ सखि० ॥
दुखसे व्याकुल मन घबड़ाता, कहाँ रहूँ किस ठौर ? ॥ सखि० ॥
चमक गरजसे चौंक पड़ूँ मैं, काँप उठे हिय जोर ॥ सखि० ॥
हर दम रिम झिम बादल बरसें, बहे वारि कर शोर ॥ सखि० ॥
इस घन-तममें मुझ दुखियाको, सूझे ओर न छोर ॥ सखि० ॥
जल-शीकर-मिश्रित समीरसे, झँप जावें दृग-कोर ॥ सखि० ॥
अमित दुःखसे असह व्यथासे, हृदय उठे झकझोर ॥ सखि० ॥
प्रगति-निराशा मर्म भेदती, धिक् धिक् जीवन मोर ॥ सखि० ॥

विजय०—कैसे आश्चर्य्यकी बात है !

[लीलाका गाते हुए विजयके पास आना ।]

विजय०—बालक ! इस किशोर अवस्थामें ही तुम्हें कौनसा दुःख है ? इस तरुण अवस्थामें क्या तुम किसीसे प्रेम करते हो ?

ली०—आप क्या कहते हैं ? मुझे दुःख है ! मुझे तो अपार सुख है ।

विजय०—तब तुम दुःखभरा गीत क्यों गा रहे थे ?

ली०—दुःखके गीतके समान मीठा और भी कोई गीत है ?

विजय०—भाई ठीक कहते हो ।

ली०—अच्छा, आप क्या सोच रहे थे ?

विजय०—कुछ विशेष नहीं ।

ली०—लेकिन मैं समझता हूँ कि कुछ विशेष अवश्य है ।

विजय०—क्यों ?

ली०—मैं बहुत दिनोंसे देखता आ रहा हूँ कि जब किसी युवा पुरुषसे पूछा जाय कि—"क्यों जी, तुम क्या सोच रहे हो ?" और वह कहे कि "नहीं, कोई ऐसी विशेष बात नहीं है ।" तब समझ लो कि उस समय वह अवश्य ही कोई विशेष बात सोचता होगा ।

विजय०—कौन कहता है ? कभी नहीं ।

ली०—आप इतना नाराज क्यों हो गए ? आप यही कह देते कि —"इसी स्त्रीकी बात सोचता हूँ ।" इसके लिये आपको कोई दोष नहीं दे सकता था । अथवा, यही कह देते कि—"यही सोचता था कि पशु चार पैरोंसे क्यों चलते हैं और मनुष्य दो पैरोंसे क्यों चलते हैं ।" इस समस्याकी मीमांसा आजतक कोई नहीं कर सका है। लेकिन जब आप यह कहें कि—"नहीं, वह—कोई ऐसी विशेष—बात नहीं है—हाँ—" तो इसका अवश्य कोई गूढ़ अर्थ है ।

विजय०—अच्छा अब तुम जाओ ।

ली०—मैं बतलाऊँ कि आप क्या सोचते थे ?

विजय०—हाँ, बतलाओ ।

ली०—आप सोचते थे कि दो और दो चार क्यों होते हैं ? कभी पाँच क्यों नहीं होते ।

(विजय हँस पड़ते हैं ।)

ली०—इसका उत्तर भी बतलाऊँ ?

विजय०—(हँसकर) हाँ, बतलाओ ।

ली०—इसका उत्तर यही है कि सदासे ऐसा ही होता आया है । इसके सिवा और कुछ हो नहीं सकता, क्या किया जाय ।

विजय०—(हँसकर) ठीक है ।

ली०—किन्तु यह तो सूखी और बनावटी हँसी है !—क्यों कैसा समझ लिया ? अच्छा मित्र ! यह बतलाइए कि आप इतने गम्भीर क्यों हैं ?

विजय०—क्या मैं बहुत ही गम्भीर हूँ ?

ली०—बहुत अधिक गम्भीर ! संसारमें आकर और इतनी गम्भीरता ! जिस संसारकी ओर निहार कर देखें, और जरासा सोचें तो खूब हँसे बिना रहा ही नहीं जाता ।

विजय०—अच्छा, खूब हँसी आती है ?

ली०—खूब । मेरी तो समझमें ही नहीं आता कि मनुष्योंसे एक दूसरेकी ओर देखते हुए भी गम्भीर होकर कैसे रहा जाता है !

विजय०—क्या गम्भीर होकर रहना बहुत कठिन है ?

ली०—बहुत ही कठिन है और यह बहुत ही जोरसे हँसनेकी बात है ।

विजय०—क्यों ?

ली०—देखिए मित्र ! मनुष्य जब कपड़े–लत्तेसे दुरुस्त होकर खड़ा होता है और सिर ऊँच करता है, तब जान पड़ता है कि वह मनुष्य है पर भीतरसे वह निरा पशु है ।

विजय—क्यों, पशु क्यों है ?

ली०—एक तो वह नंगा होकर यदि चारों पैरोंसे चलने लगे तो पशु है ! और दूसरे, जो चीज उसके पास है, जो ध्रुव है, जो मुट्ठीमें है, जो सहज है उसे छोड़कर वह उस चीजके पीछे दौड़ रहा है जो दूर है, जिसके विषयमें वह कुछ भी नहीं जानता ओर जो अस्पष्ट है। इसीलिये वह घरकी लक्ष्मीको छोड़कर पराई लक्ष्मीकी ओर बढ़ता है, दीपकको छोड़कर जूगनू पकड़ने जाता है—ऐसे सुन्दर, सरल, प्रत्यक्ष जगत्‌को छोड़कर अबोध्य, अन्धकारमय और निगूढ ईश्वरतत्त्वको लेकर सिरपच्ची करता है । इस आकाशके बाद क्या है, मरनेके बाद क्या होता है, बस इसी तरहके सदाके 'क्या' और 'क्यों' के पीछे पड़ा रहता है, जिसका मतलब ही मालूम नहीं हो सकता।

विजय०—बालक ! तुम कौन हो ? सचमुच मुझे बड़ा ही आश्चर्य होता है कि—

ली०—आश्चर्यकी तो बात ही है !

विजय०—कि—तुम इस किशोर अवस्थामें घर छोड़कर घर-बारसे रहित डाकुओंके दलके साथ साथ क्यों घूम रहे हो ?— आश्चर्य है !

ली०—बेशक आश्चर्य्य है।

विजय०—इस तरह क्यों घूमते हो ?

ली०—केवल कुतूहलके कारण ।

विजय०—यह तो झूठ बात है।

ली०—हाँ, आप ठीक कहते हैं—झूठ बात है। मित्र, आप तो अन्तर्यामी जान पड़ते हैं।

विजय०—क्यों ?

ली०—और नहीं तो फिर झूठ बातोंका आपको इतना अधिक परि-

च्चय है कि आप उन्हें देखते ही पहचान लेते हैं। आपके साथ बात करनेमें भय मालूम होता है।

विजय०—क्यों ?

ली०—पीछे कहीं मेरी सच्ची बात भी झूठ न हो जाय।—एक तो झूठ बोलनेकी मेरी आदत है और उस पर—सुनिए, घुग्घू बोलता है।

विजय०—तुम एक गोरखधन्धा हो।

ली०—आपने बहुत ठीक समझा।

विजय०—क्या ठीक समझा ?

ली०—यही कि मैं गोरखधन्धा हूँ। बहुत ठीक!—आपमें इतनी बुद्धि है!

विजय०—इसलिये कि मैंने समझ लिया कि तुम गोरखधन्धा हो ?

ली०—लेकिन यही बात और कितने आदमी जानते हैं ? मनुष्यका जीवन ही बड़ा भारी गोरखधन्धा है। मेरे मित्र ! यहाँ कौन किसको जानता है ? कितना जानता है ? आपको ही कौन जानता है ? फिर भी मनुष्य इस बातका विचार करने बैठ जाता है कि कौन सत् है, कौन असत् है, कौन सरल है, कौन उदार है, कौन कूट है! कैसा दुस्साहस है ! क्या आप यह जानते हैं कि सम्पन्नावस्थामें जो साधु होते हैं, दरिद्रावस्थामें वैसे न जाने कितने 'साधु' चोर हो जाते हैं और सैकड़ों चोर अधिकताके कारण 'साधु' नामसे प्रसिद्ध हो सकते हैं ! क्या आप जानते हैं मित्र ! कि आज जिसके साथ आप अवज्ञाका व्यवहार करते हैं, जिसके साथ बात करनेमें भी घृणा होती है वही यदि आपका मालिक हो जाय तो उसीके साथ बातें करनेके लिये आप लालायित होने लगेंगे ? तब क्या सिर्फ मैं ही गोरखधन्धा हूँ ? या मनुष्यका जीवन ही गोरखधन्धा है।—यह सारा विश्व ही एक महान् गोरखधन्धा है। मूर्ख सोचता है कि मैंने समझ

लिया; परन्तु ज्ञानी सोचता है कि कुछ भी नहीं समझा इसीलिये वह ज्ञानी है।

विजय०—आखिर तुमने ये सब बातें कहाँ सीखीं भइया ?

ली०—(माथेपर हाथ रखकर) यहाँ।—आपका आश्चर्य्य तो बराबर बढ़ता ही जाता है ! जाइए, अपना काम कीजिए। आप एक बालकका प्रलाप सुनते सुनते आलस्यमें यह दीप्त प्रभात बिताये देते हैं ! लाज नहीं आती ? कर्म्म कीजिए, नहीं तो यह दीर्घजीवन किस प्रकार कटेगा ? जो कर्म्म करनेवाला हो उसके लिये यह जीवन बहुत ही क्षुद्र है और जो कर्म्म न करता हो उसके लिये यह जीवन बहुत ही दीर्घ है। जाइए, आप वीर हैं, कर्म्म कीजिए। (प्रस्थान।)

विजय०—कैसे आश्चर्य्यकी बात है ! इतना छोटा बालक—संसारका कुछ भी हाल नहीं जानता—पर फिर भी इतना ज्ञानवान् ! कभी कभी तो इसकी बातें छोटीसी नदीकी चंचल लहरोंके समान अलस-मधुर होती हैं और कभी कभी इसका सरल विज्ञान मर्म्मतक पहुँचकर उसपर आघात पहुँचाता है—हृदयमें छिपी हुई झन्कारको झनझना देता है। बीच बीचमें मालूम होता है कि वह प्राणोंकी कोई छिपी हुई व्यथा दबाकर बैठा हुआ है। उसका हँसता हुआ चेहरा, झुकी हुई आँखें, काँपता हुआ स्वर। फिर भी उसके साथ बातचीत करनेमें मुझे बहुत शान्ति मिलती है।

[अनुरोधका प्रवेश।]

अनु०—महाराज !

विजय०—(चौंककर) कौन ? अनुरोध ? क्या खबर है ?

अनु०—कैदीके लिये क्या आज्ञा होती है ?

विजय०—कैदी ? कौन कैदी ?

अनु०—मदुराके महाराज !

विजय०—ओह ! उन्हें छोड़ दो !

अनु०—जो आज्ञा ।

विजय०—

सुन्दर सघन सुनील, गगन यह मौन-निरत है ।
गिरितट हू निस्तब्ध, सुनिर्जन शोभायुत है ॥
किन्तु न मन थिर होत, शान्ति उर लहै न पलभर ।
नहीं भुलाए भूलत है, वह वदन मनोहर! ॥

[उरुवेल और विजितका प्रवेश ।]

विजित—भइया ! आपने यह स्थान छोड़नेकी आज्ञा दी है ?

विजय०—हाँ, दी है ।

विजित—अब कहाँ चलना होगा ?

विजय०—मालूम नहीं, पाल चढ़ा दो, जहाँ पहुँच जायँ ।

विजित—भइया, मालूम होता है कि आपका दिमाग ठिकाने नहीं है ।

विजय०—हाँ, मैं भी यही समझता हूँ ।

विजित—क्या समझते हैं ?

विजय०—यही कि मेरा दिमाग ठिकाने नहीं है ।

विजित—आपने भी यह बात समझ ली ? तब भला यह कैसे कहा जा सकता है कि आपका दिमाग बिलकुल ठिकाने नहीं है ? महीने भरके बाद तो आकर एक जगह किनारे लगे, कितनी कठिनतासे लड़-भिड़कर मदुरा जीता और यहाँके महाराज हुए; और तीन दिन भी न बीते कि मदुरा छोड़नेका संकल्प कर बैठे !

विजय०—अब यहाँ तबीयत नहीं लगती ।

विजित—तो फिर अब कहाँ चलिएगा ? यह सुन्दर, शान्तिमय, श्यामल राज्य है; यहाँ आरामसे राज्य हो सकता है । और आप फिर यहाँसे चलनेकी तैयारी कर बैठे ।

विजय०—भई, इतनी शान्ति, इतनी सुन्दरता, इतनी सेवा सही नहीं जाती; इसीसे तो यहाँसे चलनेका विचार है।

विजित—तब कहाँ चलना होगा ?

विजय०—जहाँ अराजक अत्याचार, उच्छृंखल उत्पीड़न और प्राणघाती क्रोध हो। जहाँका राजा यह कहता हुआ मारने दौड़े कि—“कौन हमारा अंश छीनकर खाने आया है ?” जहाँ क्रोधसे लाल आँखें, मार-काटके लिये निकली हुई तलवार और सरल शत्रुता हो। लुकी छुपी चालबाजी और धूर्त्तता जहाँ न हो बल्कि जहाँ सीधी शत्रुता हो।

विजित—लेकिन एक ही जगह स्थिर होकर आप कुछ दिनोंतक नहीं रह सकते ?

विजय०—तुम्हीं बतलाओ कि हम किस तरह रह सकते हैं ?

विजित—देखिए मैं किस तरह रहता हूँ !

विजय०—तुम ! क्या तुमने अपने पिताको पहले क्रम क्रमसे अपरिचितकी तरह और अन्तमें शत्रुकी तरह व्यवहार करते देखा है ? जब कभी तुम अपने पिताकी गोदमें जानेके लिये आगे बढ़े थे तब कभी उन्होंने तुम्हें लात मारी थी ? जिसने तुम्हें अपने हाथोंसे पाला उसने कभी तुम्हारे मुँहके आगे विष-पात्र भी रक्खा था ? क्या तुमने—लेकिन नहीं, इस तरह मेरे जीवन-समुद्रके मथनेसे क्या होगा ? उसमेंसे विष भी तो न निकलेगा।

विजित—लेकिन यह चक्र कभी घूम भी तो सकता है—दिन फिर भी तो सकते हैं।

विजय०—लेकिन विजयसिंह भाग्यकी दयापर निर्भर रहनेवाले नहीं हैं।

विजित—तब आप क्या करेंगे ?

विजय०—नया देश ढूँढ़ निकालूँगा, नया राज्य स्थापित करूँगा, नए धर्म्मका प्रचार करूँगा।

विजित—किस नए धर्म्मका ?

विजय०—इसी धर्म्मका कि संसारमें न कोई भाई है, न कोई बाप है और न कोई माँ है। सब माया है। सब भ्रम है। सब मिथ्या है। सब तपे हुए मस्तिष्ककी धुएँके समान कल्पना है। संसार माया है, अपने पराए माया हैं, स्नेह माया है, और भक्ति भी माया है।

विजित—तो फिर सत्य क्या है ?

विजय०—निष्ठुरता, झूठ बोलना, धोखेबाजी और शैतानी। परमेश्वर यदि हो, तो हुआ करे। अनन्त निद्रामें पड़ा रहे। उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

विजित—तो क्या हम लोग एक पागलके पीछे दौड़ रहे हैं ?

विजय०—क्या तुम्हें यही मालूम होता है ?

विजित—हाँ, मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है।

विजय०—अच्छा तो फिर तुम घर लौट जाओ।

विजित—जायँगे, मगर आपको साथ लेकर।

विजय०—यह तुम्हारे वशकी बात नहीं है।

विजित—न सही, प्रयत्न तो कर देखें।

विजय०—प्रयत्न व्यर्थ होगा। पहले मैंने सोचा था कि संसारको मुँह नहीं दिखाऊँगा। अनन्त गम्भीर समुद्रमें नाव छोड़कर हवा घुमाती फिराती जहाँ ले जायगी वहीं चला जाऊँगा। इसके बाद तुम लोग भी मेरे साथ हो लिए।—क्यों साथ हो लिए—भगवान् ही जानें।

विजित—हम लोगोंका आपपर प्रेम है, इस लिये।

विजय०—तुम लोग यही समझते हो ?

विजित—समझना कैसा !

विजय०—मुझे तो इसपर पूरा पूरा विश्वास नहीं होता।

विजित—न सही।

विजय०—अच्छा, ये लोग तो ठहरे बिना घर-बारके डाकू; इन्हें मेरी शक्तिका परिचय मिल चुका है, लूटकी आशासे ये लोग मेरे पीछे लग गये हैं। लेकिन तुम—तुम तो राजपुत्र हो। नहीं, यह एक बड़े भारी खटकेकी बात है।

विजित—हुआ करे। लेकिन क्या आज ही यहाँसे चलना होगा?

विजय०—हाँ।

विजित—लेकिन—

विजय०—नहीं भाई, दोहाई है! इसमें तुम जरा भी आपत्ति न करो। अब मैं यहाँ न रह सकूँगा। जाओ, सब तैयारी करो।

(विजितका प्रस्थान।)

विजय०—यह भीषण समुद्र मदुराके पहाड़ी किनारोंपर जोरोंसे टकरा रहा है, जिससे यहाँके किनारे आर्त्तनाद कर रहे हैं। पर इस समुद्रके अन्ध और अस्थिर हृदयमें दया नहीं–अनुकम्पा नहीं। ओह! यह समुद्र कैसा असीम, कैसा अस्थिर, कैसा गम्भीर और अपार है!

[धीरे धीरे कुवेणीका प्रवेश।]

विजय०—कौन!—ऊः!

कुवे०—युवराज! क्या आप मदुरासे प्रस्थान कर रहे हैं?

विजय०—हाँ देवी, तुम ठीक कहती हो।

कुवे०—अब आप कहाँ जायँगे?

विजय०—कुछ ठीक नहीं। अनन्त समुद्रमें जहाज छोड़ दूँगा; इसके बाद हवा और लहरें जहाँ ले जायँ।

कुवे०—और मैं कहाँ जाऊँगी?

विजय०—जहाँ तुम्हारी इच्छा हो ।

कुवे०—लेकिन कुमार ! क्या आप मुझे छोड़कर जा सकेंगे ?

विजय०—क्यों न जा सकूँगा देवी ?

कुवे०—नहीं, आप न जा सकेंगे । मैं आपसे प्रेम करती हूँ । क्यों, आप चुप क्यों हो रहे ? अब मैं आपको न छोडूँगी । बहुत ढूँढ़नेपर आज मुझे अपनी चीज मिली है ।

विजय०—लेकिन मेरा तो विवाह हो चुका है ।

कुवे०—नहीं, आप उसके नहीं बल्कि मेरे हैं । मैंने जिस समय आपको पहलेपहल देखा था उसी समय समझ लिया था । आपकी मजाल है जो आप मुझे छोड़कर चले जायँगे ?

विजय०—लेकिन देवी ! मैं विवाहित हूँ ।

कुवे०—जरा एक बार मेरे मुखकी ओर देखिए । केवल एक बार अच्छी तरह देखिए । इसके बाद अगर आप जा सकें तो खुशीसे चले जाइए । अच्छा देखिए ।

विजय०—इसमें सन्देह नहीं कि तुम अनिन्द्य सुन्दरी हो । मैंने पहले कभी ऐसा रूप नहीं देखा । लेकिन देवी !—

कुवे०—बस अब ‘ लेकिन ’ ‘ वेकिन ’ कुछ नहीं । अब कोई चिन्ता नहीं । आप मेरे हैं—मेरे हैं । जिस समय मेरे विवाहकी बातचीत होती थी उस समय मेरी माता अभिमानसे कहती थीं कि मेरी कन्या संसारमें अतुल सुन्दरी है । और सखियाँ गर्वसे उन्मत्त तथा आनन्दसे अन्ध होकर मेरी प्रशंसा करती थीं । लेकिन मैं उससे उद्वेलित नहीं हुई थी । पर आज आपके मुँहसे अपने रूपकी प्रशंसा सुनकर मैं आनन्दसे क्यों अधीर हो गई ? प्रियतम, सुनिए, मैं यह रूप आपको भिक्षादान करती हूँ । इसे लेकर आप धन्य होइए ।

विजय०—देवी ! कह चुका हूँ कि मैं विवाहित हूँ।

कुवे०—मैंने एक बार कह दिया अब आगे आपकी जो इच्छा हो सो कीजिए। देखूँ आपकी शक्ति । (बाँहें हिलाती है।)

विजय०—सुन्दरी तुम कौन हो ?

कुवे०—परिचयसे मतलब ? आप जाइए, मैं देखूँ ।

विजय०—अच्छा, मैं तुमसे बिदा माँगता हूँ।

कुवे०—सावधान ! अहंकार करके अपना भविष्य अन्धकारमय न कीजिए !

विजय०—देवी ! इस समय मेरे लिये जो अन्धकार है उससे और बढ़कर अन्धकार हो ही नहीं सकता !

कुवे०—आपको किस बातका दुःख है ?

विजय०—यदि मुझे दुःख न होता तो क्या मैं अपने 'वर्तमान' को इस लवणसमुद्रमें इस तरह बहा देता ?

कुवे०—युवराज ! मुझे बतलाइए कि आपको क्या दुःख है। मैं वह दुःख दूर कर दूँगी।

विजय०—नहीं, तुमसे कुछ न हो सकेगा।

कुवे०—तो भी प्रियतम ! मुझे बतलाइए तो सही कि आपको क्या दुःख है।

विजय०—सुनोगी ?

कुवे०—हाँ कहिए।

विजय०—मैं अपने देशसे निकाल दिया गया हूँ। और मुझे देशसे निकालनेवाले वही प्रियतम पिता हैं, जिनसे बढ़कर मैंने संसारमें कभी किसीको चाहा ही नहीं। उन्हीं पिताने—उन्हीं पिताने—नहीं, नहीं, उनके जिक्रकी जरूरत नहीं। वे पिता तो हैं ही, लेकिन महाराज हैं

और उन्होंने न्याय किया है । उनका कोई दोष नहीं । सब दोष—सब अपराध मेरा ही है ।

कुवे०—बस बस, मैंने समझ लिया । युवराज ! हम दोनोंका भविष्यत् गुप्त रूपसे एकसाथ जुड़ा हुआ है । अब इस जीवनमें हम लोग अलग नहीं हो सकते । मेरा नाम कुवेणी है और मैं लंकाके भूतपूर्व महाराजकी कन्या हूँ । प्रियतम ! मेरे पिता अब इस संसारमें नहीं हैं । मेरी माताने लंकाके नए महाराजसे विवाह कर लिया है और अब वे अपनी सन्तानसे विमुख हो गई हैं । भला बतलाइए तो कि जब माता 'माता' ही न रह जाय तो सन्तानको कितना दुःख होता है ! और तिसपर लंकाके नए महाराज ! क्या कहूँ ! मैं भी देशसे निकाली हुई हूँ । मैं भी राजकन्या हूँ । लेकिन न तो मेरी माता हैं और न मेरे पिता । इस विशाल विश्वमें मेरा कोई नहीं है । न पिता हैं, न माता है, न घर है, न बार है । आपने समुद्रमेंसे डूबते हुए मेरा उद्धार किया है । आइए नाथ ! आप ही मेरे राज्यका भी उद्धार कीजिए । चलकर मेरा सिंहासन, मेरा पैतृक स्वत्व, मेरा जन्म-अधिकार मुझे दिलवा दीजिए ।

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—लंका ।

[उत्पलवर्णा और तापस ।]

उत्प०—वही एक पुरानी बात—केवल उसका स्वरूप नया है । मनुष्यका जीवन चक्रके समान घूम रहा है ! जो बात पहले हो चुकी है, वही अब फिर नए सिरेसे हो रही है और भविष्यमें भी वही होगी । इसीसे बीच बीचमें पिछले जन्मोंकी बातोंसे भावी घटनाओंके [illegible] कुछ

संकेत मिल जाते हैं। स्मृतिका नीरव तंत्र बज उठता है । पूर्वजन्मकी निबिड़ कहानी स्वप्नावेशमें बह आती है। इसके बाद मोहके आलस्यसे फिर नींद—

तापस—हाँ, यह तो समझ लिया पुरोहितजी ! लेकिन यह सोनेकी लंका यक्षोंकी है। यह मनुष्योंकी कभी न हो सकेगी।

उत्प०—लेकिन यक्षोंसे भी पहले यह सोनेकी लंका राक्षसोंकी थी।

ता०—तौ भी मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि मनुष्य आकर इस लंकाको जीत लेंगे।

उत्प०—बहुत जल्दी विश्वास करना पड़ेगा । इसे जीतनेवाला आ रहा है।

ता०—कौन ?

उत्प०—विजयसिंह ! मैंने उनकी गम्भीर विजयभेरी सुनी है।

ता०—असम्भव।

उत्प०—वे आए जाते हैं। आज ही एक विलक्षण बात दिखाई पड़ेगी। सातसौ सैनिकोंको साथ लाकर विजयसिंह लंका जीत लेंगे।

ता०—केवल सातसौ सैनिकोंसे ! यह तो कभी हो ही नहीं सकता।

उत्प०—जिस समय भीतर क्षय हो जाता है उस समय सुमेरु पर्वतका शिखर भी हवाके एक हलके झोंकेसे जमीनपर गिर सकता है। देखो ये लोग आ रहे हैं। आओ आड़में हो जायँ। (दोनों आड़में छिप जाते हैं।)

[बातें करते हुए अनुरोध और उरुवेलका प्रवेश।]

अनु०—अपने देशसे यहाँ कुछ ज्यादा फरक तो नहीं मालूम होता।

उरु०—फरक काहेका ! वही नीला आकाश, वही बोए हुए धानके खेत, वही पेड़-पत्ते। सब कुछ तो वही है।

[illegible]एँ-भैंसें भी बिलकुल गौएँ-भैंसें हैं।

उरु०—मालूम होता है कि दूध भी देती हैं ।

अनु०—लंकाके विषयमें तरह तरहकी बातें सुनी जाती थीं । सुनते थे कि वहाँके खेतोंमें सोना फलता है, पेड़ोंमें हीरोंके गुच्छे लगते हैं । लेकिन यहाँ तो सब चीजें हमारे ही देशकी तरह हैं ।

उरु०—पर हाँ, यह देश कुछ अधिक जंगली है ।

अनु०—और ठण्ढा भी अधिक है ।

उरु०—यहाँ सन्नाटा बहुत है ।

अनु०—बिलकुल मायामय है । यहाँ रहरहकर नींद सी आने लगती है ।

उरु०—लेकिन जलका यहाँ बहुत कष्ट है । दो दो कोसतक भी एक सरोवर नहीं है ।

अनु०—मालूम होता है कि यहाँके लोग जल नहीं पीते ।

उरु०—हाँ, यही तो । लेकिन यहाँके लोग घूमनेके लिये बाहर क्यों नहीं निकलते ? (दोनों आगे बढ़ते हैं ।)

अनु०—चलो, आगे बढ़कर देखें ।

[उत्पलवर्ण और तापसका बाहर निकल आना ।]

ता०—इन लोगोंकी बातें कुछ भी समझमें नहीं आईं ।

उत्प०—ये लोग प्राकृत भाषा बोलते हैं ।

ता०—तुम्हें वह भाषा आती है ?

उत्प०—हाँ, आती है ।

ता०—यही लोग लंकाको जीतेंगे ?

उत्प०—बेशक ।

ता०—असम्भव ।

उत्प०—(तापसकी ओर देखकर) बेचारेको पूर्वजन्मका कुछ भी हाल नहीं मालूम । लो विजयसिंह आ रहे हैं ।

[पैरोंके चिह्न देखते देखते बालकके साथ विजयसिंहका प्रवेश ।]

विजय०—ये तो उन्हीं लोगोंके पैरोंके निशान हैं । लेकिन यहाँ आकर तो उन निशानोंका अन्त हो गया । अब तो वे निशान दिखाई ही नहीं पड़ते ।

बालक—हाँ दिखाई तो नहीं देते ।

विजय०—आखिर इसका मतलब क्या है ?

बा०—या तो किसीने उन लोगोंकी यहाँ हत्या की है और या—

विजय०—और या क्या ?

उत्प०—युवराज विजयसिंहजी ! आप आ गए ?

विजय०—आप कौन हैं ?

उत्प०—हैं ! मैं तो आपको पहचानता हूँ ।

विजय०—आपको मेरा नाम किस तरह मालूम हुआ ?

उत्प०—नाम ! मैं तो आपके नाड़ी-नक्षत्र सब जानता हूँ ।

विजय०—आप मुझे पहचानते हैं ?

उत्प०—हाँ, बहुत अच्छी तरह पहचानता हूँ । ठीक वही अभिमानसे सिर हिलाना, वही चिन्तायुक्त उदासदृष्टि ।—सब बातें बिलकुल वही हैं।

विजय०—आपने मुझे पहले कभी देखा है ?

उत्प०—हाँ, देखा है ।

विजय०—कहाँ देखा है ?

उत्प०—पूर्वजन्ममें। आप मुझे बिलकुल नहीं पहचानते ? क्यों ? आप आश्चर्यसे मेरे मुँहकी ओर क्यों देख रहे हैं ? आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं !

विजय०—नहीं ।

उत्प०—लेकिन मुझे खूब ध्यान है। मुझे अच्छी तरह याद आता है कि आप एक बनिएके लड़के थे और मैं एक गृहस्थका लड़का था। व्यापारमें आपका मन नहीं लगता था और संसारसे मेरी भी प्रीति नहीं थी। हम दोनों अभिन्नहृदय मित्र थे। आपको कुछ भी याद नहीं आता ?

विजय०—नहीं।

उत्प०—हम लोग कभी बिना एक दूसरेको देखे रह ही नहीं सकते थे। मुझे याद आता है कि एक दिन हम दोनों नीलाचलके नीचे टहल रहे थे; आप मुझे देश-देशान्तरकी बातें सुनाते थे, और मैं आपको जन्मजन्मान्तरकी बातें सुनाता था। घूमते घूमते सन्ध्या होनेको आई। मैंने कहा कि—"चलो मकान चलें।" आपने कहा कि—"जरा चन्द्रमा निकल आवे।" इसके बाद अन्धेरा हो गया। थोड़ी देर बाद चन्द्रमा निकला। तब हम लोग घर लौटे। लेकिन एक बिलकुल नए रास्तेसे चले।—आपको याद नहीं आता ?

विजय०—मुझे तो याद नहीं आता।

उत्प०—इसके बाद हम लोग एक जंगलमें जापड़े। एक शेरकी आवाज सुनाई पड़ी। मैं डर गया। लेकिन आप जरा भी विचलित नहीं हुए और पहलेकी तरह ही बराबर बातें करते हुए चलते रहे। इसके बाद—

विजय०—इसके बाद ?

उत्प०—इसके बाद जंगलमेंसे एक शेरने निकलकर मुझपर आक्रमण किया। आपने जल्दीसे तलवार निकालकर उसकी गरदनपर जमा दी; वह मुझे छोड़कर आपपर झपटा। शेरकी वह गरज और आपका खूनसे लथपथ शरीर, कातरदृष्टि और मृत्यु मुझे अबतक याद है।

विजय०—मेरी मृत्यु !

उत्प०—हाँ, मुझे ठीक याद है।

विजय०—सचमुच यह मायाका देश है। यहाँकी सभी बातें अद्भुत हैं।

उत्प०—और यह बालक कौन है ? याद तो नहीं आता कि पूर्व-जन्ममें इसे कहीं देखा हो।

विजय०—पूर्वजन्मकी सब बातें आपको इस तरह जबानी याद हैं ?

उत्प०—आप परीक्षा ले सकते हैं।

बालक—इस विषयमें आपकी परीक्षा लेनेवाला संसारमें कोई नहीं है। खैर, इस जन्ममें आप कौन हैं ?

उत्प०—आचार्य्य।

बालक—यह तो अच्छी तरह समझमें आता है—और यह देश कौन है ?

उत्प०—लंका, और इस नगरका नाम है ताम्रपर्णी।

बा०—रावण इसी लंकाका राजा था ?

उत्प०—हाँ लड़के ! भला बतलाओ तो सही कि पूर्वजन्ममें तुम कौन थे ?

बालक—पूर्वजन्ममें मैं एक हताश-प्रेमिका था।

उत्प०—बहुत ठीक। तुम किससे प्रेम करते थे ?

बा०—इन्हीं विजयसिंहसे। क्यों युवराज ! आपको याद नहीं है ? वही जो ब्राह्मणकी छोटीसी एक बालिका थी; मिट्टीका घरौंदा बनाकर तोड़ डाला करती थी और जब कुछ खानेको पाती थी तब उसमेंसे आधासा आपको लाकर दिया करती थी।

उत्प०—आधासा दे दिया करती थी ?

बालक—इन्हें बिना दिए मुझसे खाया ही न जाता था। इन्हें जब इनके पिता बेंत मारा करते थे—

विजय—क्या ! मुझे बेंत मारते थे ?

बालक—हाँ, तो मैं आगे बढ़कर वह बेंत अपनी पीठपर रोक लेता था । अः ! अब भी उसका कुछ कुछ दरद मालूम होता है । इसके बाद जब इनके पिताने इन्हें घरसे निकाल दिया था—

विजय०—पूर्वजन्ममें भी मेरे पिताने मुझे घरसे निकाल दिया था ?

बालक—हाँ, तब मैं इनके संग संग घूमता था । ये मेरी ओर देखते भी न थे ।

उत्प०—ये तुमसे प्रेम नहीं करते थे ?

बालक—नहीं—

उत्प०—बहुत ठीक ।

बालक—" ठीक " क्या ?

उत्प०—तुम्हीं जान पड़ते हो !

बालक—अब तो आपने मुझे पहचाना ?

उत्प०—नहीं, मैंने तो तुम्हें कभी नहीं देखा । लेकिन—

बालक—लेकिन क्या ?

उत्प०—विजयसिंह तुम्हारी बातें मुझे कभी कभी सुनाया करते थे ।

बालक—मेरी बातें सुनाते थे ? चलो छुट्टी पाई ।

उत्प०—विजयसिंह भी तुमसे प्रेम करते थे ।

बालक—मुझसे प्रेम करते थे ? वाह ! क्या अच्छा होता यदि यह बात मुझे पूर्वजन्ममें ही मालूम हो जाती ।

विजय०—आप दोनों आदमियोंने मिलकर कोई जाल तो नहीं रचा है ? पूर्वजन्ममें मैं चाहे जो कुछ रहा होऊँ, इससे कोई मतलब नहीं । पर क्या आप यह बतला सकते हैं कि इस समय मेरे साथी लोग कहाँ हैं ? वे लोग इसी ओर आए थे ।

उत्प०—कितने आदमी थे ?

विजय०—सात सौ।

उत्प०—ठीक।

बालक—क्या उनका भी पूर्वजन्मके साथ मिलान हो गया ?

उत्प०—ठहरिए आपको मायासे अभेद्य कर दूँ। (हाथमें सूत्र बाँधते हैं।)

बालक—यह बाँध क्या दिया ?

(उत्पलवर्ण मंत्र पढ़कर विजयके शरीरपर जल छिड़कते हैं।)

विजय०—यह और क्या कर दिया ?

उत्प०—आप लंका जीतेंगे।

विजय०—यह क्या ! आपने मुझे पागल समझ रक्खा है ? (कड़ी आवाजसे) मेरे साथी कहाँ हैं ? जल्दी बतलाइए नहीं तो—(तलवार निकालते हैं।)

उत्प०—इतने तेज मत होइए। आपको तलवार निकालनी पड़ेगी —लेकिन अभी नहीं। आपके साथियोंको कैद कर लिया है।

विजय०—किसने ?

उत्प०—लंकाके महाराजने।

विजय०—किस तरह ?

उत्प०—मायाके बलसे। ये यक्ष मायाके बलसे अजेय होते हैं। लेकिन यक्ष-कन्या कुवेणीने अपने मायाके बलसे उन सबका उद्धार किया है। मैं मायाबल नहीं जानता। लेकिन मायाबलका प्रतिरोध करना मुझे आता है। ये देखिए, आपके साथी लोग आ रहे हैं।

[विजयके साथियोंका प्रवेश।]

साथी—जय ! युवराजविजयसिंहकी जय !

उत्प०—आप इन्हीं सातसौ सैनिकोंको साथ लेकर लंका जीतेंगे। पहले भी ऐसा ही हुआ था। इस बार भी ऐसा ही होगा। आप लंकाके राजा होंगे और कुवेणी रानी होगी। जाइए, युद्धके लिये तैयार होइए, कल युद्ध होगा।

(विजय और बालकके अतिरिक्त सबका प्रस्थान।)

ली०—मित्र! मुझे तो बड़ी हँसी आ रही है।

विजय०—क्यों?

ली०—एक बातका ख्याल करके।

विजय०—किस बातका?

ली०—युद्धका।

विजय०—क्या युद्ध हँसीकी चीज है?

ली०—क्यों? युद्ध हँसीकी चीज नहीं है? एक पशु घास खा रहा है, पासकी भूमिमें और भी एक पशु घास खा रहा है। पहले पशुने दूसरेको देखा; उससे रहा न गया। उसने कहा कि मैं अपनी घास नहीं खाऊँगा, उसकी घास खाऊँगा। भई क्यों? इस लिये कि वह घास बहुत मीठी है। दूसरा पशु यदि कहे कि अच्छा, तो मैं तुम्हारी घास खा लूँगा। नहीं, मैं यह घास खाऊँगा और वह भी घास खाऊँगा। दोनों ही जगहकी खाऊँगा। तुम नहीं खाने पाओगे। केवल मैं ही जीता रहूँ, तुम्हारे बचे रहनेकी तो कोई जरूरत नहीं है।

विजय०—ठीक कहते हो!

बालक—तो फिर मेरा गला पकड़कर जोरसे दबा दीजिए।

विजय०—क्यों?

बालक—इस लिये कि आपमें बल अधिक है। अप्रिय सत्य बात कहनेका मुझे क्या अधिकार है?

विजय०—बालक ! तुम ठीक कहते हो । तुम कौन हो ? तुम अपने मनसे इस तरह बोले जाते हो–जैसे कोई पागल पागलपनकी बातें करता हो ! पर ऐसा नहीं है। इन बातोंके भीतर ढेरके ढेर मतलब भरे हैं ।—तुम कौन हो ?

(विजय बालकका हाथ पकड़ते हैं। बालक बड़ी तेजीसे अपना हाथ खींच लेता है । मानो हाथमें साँपने काट लिया हो ।)

विजय०—क्या हुआ ? चोट तो नहीं लगी ?

बालक—लगी है। बहुत जोरसे लगी है। लेकिन हाथमें नहीं लगी– (कलेजेपर हाथ रखकर) यहाँ, यहाँ लगी है। आपने यह क्या किया ! मुझे छूआ क्यों ? यह क्या किया !

विजय०—क्यों, मैंने क्या किया ?

बालक—अब तो मुझसे नहीं रहा जाता। समुद्रका यह निर्जन किनारा है, सन्ध्याका यह मधुर समय है, आकाशमें यह चन्द्रमा निकल रहा है।—प्रियतम ! प्राणाधिक ! नहीं, नहीं—राजाधिराज ! मैं कुछ भी नहीं चाहता। क्षमा कीजिए। (प्रस्थान ।)

वि०—बड़े आश्चर्य्यकी बात है !

छठा दृश्य ।

स्थान—लंकाका राजमहल। **समय**—संध्या।

[कालसेन और जयसेन ।]

काल०—जयसेन ! युद्धकी क्या खबर है ?

जय०—पिताजी ! मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम ।

काल०—तुम युद्धसे नहीं आ रहे हो ?

जय०—जी नहीं ।

काल०—तब इतनी देरतक कहाँ थे ?

जय०—महलकी छतपर ।

काल०—महलकी छतपर ! वहाँ क्या कर रहे थे ?

जय०—युद्ध देख रहा था ।

काल०—युद्ध देख रहे थे ! क्यों काँप क्यों रहे हो ?

जय०—पिताजी ! इस युद्धमें हम लोगोंकी अवश्य हार होगी ।

काल०—कौन कहता है ?

जय०—विजयसिंह तो देवराज इन्द्रकी तरह युद्ध कर रहे हैं ! ज्योंही हमारी सेना उनपर आक्रमण करने जाती है त्योंही उनके तीरोंके आघातसे धूलकी तरह उड़ जाती है । विजयसिंह साक्षात् यम मालूम होते हैं । ऐसी भीषण मूर्ति मैंने कभी देखी ही नहीं । कैसी भयानक है ! लंकाका पराजय अवश्य होगा ।

काल०—इसीलिये काँप रहे हो ? कायर ! तुच्छ मनुष्योंके साथ युद्धमें यक्षोंका पराजय होगा ! क्या बकते हो ? तुच्छ मनुष्योंके साथ !—

[उत्पलवर्णका प्रवेश ।]

उत्प०—महाराज ! स्वयं भगवान् ही मनुष्यका रूप धरकर लंकामें आए हैं ।

काल०—लेकिन बंगालके विजयसिंह तो भगवान् नहीं हैं ।

उत्प०—महाराज कालसेन भी तो शमनजयी रावण नहीं हैं—राजकुमार जयसेन भी इन्द्रजित मेघनाद नहीं हैं ।

काल०—लेकिन सात सौ सैनिक—

उत्प०—महाराज ! जब समय पूरा हो जाता है तब सभी असम्भव बातें सम्भव हो जाती हैं । लंकामें यक्षोंके राज्यकी आयु समाप्त हो गई है—अब मनुष्योंका युग आया है ।

काल०—कौन कहता है ?

उत्प०—मैंने देखी है ।

काल०—क्या देखी है पुरोहित ?

उत्प०—यही भविष्यद्वाणी ।

काल०—देखी है ? कहाँ ?

उत्पल०—आगके अक्षरोंमें लिखी हुई ।

काल०—कहाँ ?

उत्प०—आकाशके सघन परदेपर । सुनिए, मनुष्य जयध्वनि कर रहे हैं ! क्यों महाराज, आप पीले पड़ गए ? अब रक्षा नहीं है । सावधान ! (प्रस्थान ।)

काल०—हैं ! यह फिर मनुष्योंकी जयध्वनि हो रही है ! मुझे तो बिलकुल अन्धकार मालूम होता है ! पैर क्यों काँप रहे हैं ! फिर जोरसे मनुष्योंकी जयध्वनि हो रही है ! कहीं कोई है ? हमे बचाओ ! हमें बचाओ !

नेपथ्यमें वसुमित्रा—भागिए ! भागिए !

[वसुमित्राका प्रवेश ।]

काल०—कौन—तुम कौन हो ?

वसु०—चलिए, चलिए—भाग चलें ।

काल०—कहाँ ?

वसु०—समुद्रकी तरफ, सघनवनकी तरफ, पर्वतकी तरफ ! जिधर बन सके भाग चलें ।

काल०—भागें !

वसु०—हाँ, चलिए, भाग चलें ।

काल०—बचाओ, बचाओ । विरूपाक्ष !

वसु०—महाराज ! इस संकटसे आपको कोई नहीं बचा सकता ।

काल०—क्यों ? साफ साफ कहो । हैं ! यह तो रह रहकर शत्रुकी जयध्वनि हो रही है । यह क्या वसुमित्रा ! पत्थरकी मूरतकी तरह टक लगाकर क्यों देख रही हो ? वसुमित्रा !

वसु०—महाराज ! भाग चलिए । नहीं तो अब रक्षा नहीं है ।

काल०—क्या हुआ ? साफ साफ कहो ।

वसु०—महाराज आपको कुवेणीका ध्यान है ?

काल०—वह तो मर गई ।

वसु०—महाराज ! वह मरी नहीं । कल रातको मैंने उसे देखा था ।

काल०—कहाँ ?

वसु०—स्वप्नमें । मैंने देखा था कि वह विजयसिंहके पास खड़ी है । योद्धाओंका सा वेश था; सोनेके टोपके नीचे उसके बिखरे हुए बाल थे, चेहरा चमक रहा था; आँखोंके कोनोंमें गहरी कालिमा थी । उसने कहा—" माँ, भाग आओ । " मैंने जाना नहीं चाहा । थोड़ी ही देरमें वह आकाशमें मिल गई । किन्तु विजयसिंह खड़े रहे । चलिए, भाग चलें।

काल०—यह तो खाली स्त्रीका स्वप्न है ।

वसु०—नहीं, कोरा स्वप्न नहीं है । इसके बाद जब मैं सोकर उठी तब मैंने फिर देखा—सामने कुवेणी खड़ी है ! मैंने उसे जकड़कर पकड़ लिया । उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा—" माँ, चलो आओ । " मैंने कहा कि " नहीं, मैं नहीं जाऊँगी । " उसने बहुत कहा पर मैं नहीं गई । इसके बाद—इसके बाद वह चली गई ।

काल०—तुम उससे छिपकर मिली थीं ?

वसु०—हाँ मिली थी । पर आपका मुँह क्यों सूख गया ? आइए आइए, भाग चलें । (हाथ पकड़ लेती है ।)

काल०—(धीरेसे हाथ छुड़ाकर) वसुमित्रा ! यह सब तुम्हारा ही काम है !

वसु०—क्या मेरा काम है ?

काल०—तुम्हीं इन शत्रुओंको लंकामें बुला लाई हो । हैं ! यह फिर विपाक्षियोंकी जयध्वनि हो रही है । तब तुमने—

वसु०—नहीं नहीं । यह मेरा काम नहीं है । यह मेरी कन्याका काम है ।

काल०—एक ही बात है । हम नहीं भागेंगे । हम यहाँ मरनेके लिये बैठे हैं, मरेंगे । लेकिन तुम भी मरोगी ।

वसु०—इसका क्या मतलब ?

काल०—हम तुम्हारी हत्या करेंगे ? (वसुमित्राको जमीनपर गिराकर और उसके गलेपर तलवार रखकर) मरनेके लिये तैयार हो जाओ ।

वसु०—नहीं, मेरे प्राण न लीजिए । मेरा कोई दोष नहीं है ।

काल०—अब इस बातका विचार करनेका समय नहीं है कि तुम दोषी हो या निर्दोष । पर हाँ—(मारनेके लिये तलवार उठाना ।)

वसु०—बचाओ ! बचाओ ! कहीं कोई हो तो मुझे बचाओ ।

काल०—देखो हम तुम्हें बचाते हैं । (तलवारके कई आघात करके मार डालता है ।)

[सैनिक वेशमें विजयसिंह और कुवेणीका प्रवेश ।]

कुवे०—लो ये तो यहाँ हैं । महाराज ! महारानी कहाँ हैं ?

काल०—महारानी ! कहाँकी महारानी ?

कुवे०—लंकाकी ।

काल०—क्यों ? क्या काम है ?

कुवे०—अभी उन्हींके जैसी चिल्लानेकी आवाज सुनाई पड़ी थी ।

काल०—तुमने सुनी थी ?

कुवे०—हाँ, मैंने सुनी थी । आवाज आ रही थी—“ मेरी हत्या मत करो । मुझे बचाओ । ” उन्हींकी आवाज थी । वे कहाँ हैं ?

काल०—देखो, उस कोनेमें वह स्थिर मांसपिण्ड पड़ा है।

कुवे०—(आगे बढ़कर) माँ ! माँ !—हैं ! तुम बोलती क्यों नहीं ? माँ !—हैं ! यह क्या हुआ ? खून ! खून ! आपने यह क्या किया ?

काल०—हत्या की है।

कुवे०—आपने हत्या की है ?

काल०—हाँ हमने हत्या की है।

विजय०—(बढ़कर) लंकेश्वर ! तुमने स्त्रीकी हत्या की है ? अच्छा, तलवार निकालो।

काल०—तुम कौन हो ?

विजय०—मैं विजयसिंह हूँ। आओ। लड़ो ! कायर कहींका !

(दोनोंका लड़ना और कालसेनका घायल होकर गिर पड़ना।)

कुवे०—(वसुमित्राकी लाशपर गिरकर) माँ ! माँ !

चौथा अंक।

पहला दृश्य।

स्थान—लंकाका एक निर्जन प्रान्त।

समय—संध्या।

[विरूपाक्ष और विशालाक्ष।]

विरू०—अच्छा तो अब विजयसिंह राजा बन बैठे हैं?

विशा०—और नहीं तो क्या?

विरू०—जिस समय ये विजयी वीर लंकाके सिंहासनपर बैठे थे उस समय यहाँके लोगोंके कैसे भाव थे?

विशा०—विजयसिंह लंकाके उसी पुराने जड़ाऊ सिंहासनपर बैठे। उनके अनुचरोंने उच्च स्वरसे कहा—"जय! लंकाके महाराज विजयसिंहकी जय!" उसी समय महलमें जय-वाद्य बजने लगे। दुर्गपर बंगालका सफेद झण्डा फहराने लगा। सभासदोंने भी जयध्वनि की।

विरू०—लंकावाले जयध्वनिमें सम्मिलित नहीं हुए?

विशा०—वे भी सम्मिलित हुए थे।

विरू०—घर घर शंखकी ध्वनि नहीं हुई थी?

विशा०—हुई थी।

विरू०—पुरोहित लोग उपस्थित थे?

विशा०—हाँ, थे।

विरू०—किसीने कुछ कहा था?

विशा०—एक तरुण तापसने कहा था—“ जय ! महाराज जयसेनकी जय । ”

विरू०—सच ? वह तापस कौन था ?

विशा०—मालूम नहीं ।

विरू०—धन्य तापस ! इसपर किसीने कुछ कहा था ?

विशा०—नहीं । विजयसिंहने एकबार उसकी तरफ देखा था । इतनेमें अचानक उनका दीप्त मुखमंडल गंभीर हो गया । इसके बाद वे फिर अपने प्रिय अनुचरोंके साथ बातें करने लगे ।

विरू०—इसके बाद और भी कुछ हुआ ?

विशा०—आज सवेरे रानी कुवेणीके साथ महाराज विजयसिंहका विवाह हो गया ।

विरू०—(गम्भीर होकर) हूँ !

विशा०—राजकुमार जयसेनसे इस विवाहमें आकर बाधा दी थी । इसपर रानीने उन्हें कारागारमें बन्द कर दिया !

विरू०—किस अपराध पर ?

विशा०—जयसेन उन्मत्त होकर विवाहमंडपमें विजयसिंहकी हत्या करने गए थे । रानीने उन्हें पागल बतलाकर कारागारमें भेज दिया ।

विरू०—अच्छा ! तब ?

विशा०—आज रातको राजदम्पतीके विवाहका उत्सव होगा ।

विरू०—अच्छा ! अब तुमने क्या करना विचारा है ?

विशा०—अब हम लोग क्या करेंगे ?

विरू०—शत्रुके सेनापति बनोगे ?

विशा०—क्यों नहीं बनूँगा ? जब लंका स्वाधीन थी तब युद्ध किया था । अब लंका जीती गई, अब झगड़ा करना पाप है !

विरू०—तुम लंकाके निवासी होकर एक बंगालीकी नौकरी करोगे ? यक्ष होकर मनुष्यके नौकर बनोगे ?

विशा०—लेकिन वे क्या ऐसे वैसे मनुष्य हैं ? विजयसिंहको देखकर उनके प्रति तुम्हारे मनमें भक्ति नहीं होती ?

विरू०—क्या कहा ? भक्ति ? बात तो बहुत अच्छी कही । मनुष्यकी भक्ति !

विशा०—विरूपाक्ष ! तुम्हारा यह बिगड़ना व्यर्थ है । यक्षोंका युग गया । अब मनुष्योंका युग आया है । पर हाँ, मनुष्य भी यदि सचमुच मनुष्य हो तो ।

विरू०—सेनापति ! यदि यक्षोंका युग गया तो मैं भी उनके साथ चला जाऊँगा, ज्योत्स्नाके नष्ट हो जानेपर निर्लज्ज कलंकी चन्द्रमाकी तरह, आकाशमें डरसे पीला होकर खड़ा खड़ा सूर्य्यकी ओर मैं नहीं देखता रहूँगा ।

विशा०—राज्यशासन करनेमें असमर्थ, अत्याचारी कालसेनका उच्छृंखल राज्य तो जाना ही चाहिए । विजयसिंहने तो केवल विधाताकी आज्ञा का पालन किया है । उनकी जय हो !

विरू०—अच्छा ! आजसे मैं तुम्हारा शत्रु हुआ !

विशा०—(हाथ पकड़कर) विरूपाक्ष ! जरा अच्छी तरह समझ बूझ लो ।

विरू०—जाओ, सब समझ लिया । (हाथ छुड़ाकर जल्दीसे प्रस्थान ।)

विशा०—विरूपाक्ष ! तुम्हारा यह बिगड़ना व्यर्थ है । चाहे राज्य हो, चाहे शिल्प हो और चाहे धर्म्म हो, नएके सामने पुराना नहीं ठहरता । आकाशमें बादल उमड़ रहे हैं । लेकिन पानी नहीं बरसता, हवा भी बिलकुल नहीं चलती । कैसी कड़ी गरमी है !

[बातें करते हुए उत्पलवर्ण और तरुण तापसका प्रवेश ।]

ता०—हाँ, तो पुरोहितजी ! बंगालके विजयसिंहको आप ही लंकामें खींच लाए हैं ?

उत्प०—नहीं, उन्हें मैं नहीं खींच लाया, बल्कि भाग्य खींच लाया है ।

ता०—भाग्य ? कभी नहीं । मनुष्य अपना भाग्य स्वयं ही बनाता है ।

उत्प०—तुम्हारा यही विश्वास है ? अहंकार सदा इस बातका अहंकार करता है कि मैं अकेला ही अपने आपका भविष्यत् गठन करता हूँ । लेकिन वह इसी सीमाके अन्दर है । इसमेंसे बाहर निकलना उसकी शक्तिके बाहर है । ये विजयसिंह इस अवस्थामें सदासे आए थे, आज आए हैं और सदा आते रहेंगे ।

ता०—और आप उन्हें आदरपूर्वक लाकर अपने घरमें बैठावेंगे ?

उत्प०—मैं भी तो भाग्यके ही अधीन हूँ ।

ता०—भाग्यके अधीन ? या विश्वासघातक ?

उत्प०—हाँ, मैं विश्वासघातक हूँ । लेकिन यह भी भाग्यकी ही बात है ।—बतलाओ मैं क्या करूँ ? मैं जानता था कि मैं विश्वासघातक होऊँगा । विजयसिंह लंकाको जीतेंगे । तुम व्यर्थ बिगड़ोगे । मैंने तो यह ललाटकी लिपि पढ़ी है । जो जो होता है, वह सब मैं जानता हूँ ।

ता०—और भविष्यमें जो होगा ?

उत्प०—वह भी मैं जानता हूँ ।

ता०—आप जानते हैं कि आपकी मौत आपके सामने खड़ी है ?

उत्प०—नहीं, अभी मेरी मौत बहुत दूर है । अभी मेरा काम पूरा नहीं हुआ । अभी मेरी मौत बहुत दूर—

ता०—नहीं, अभी इसी समय आप मरेंगे ।

उत्प०——नहीं, अभी तो वह बहुत दूर——

ता०——अच्छा, तो वह पास आई जाती है । देखिए । (उत्पल-वर्णका गला पकड़कर बगलमेंसे छुरी निकालना और मारनेके लिये हाथ उठाना । इतनेमें विशालाक्षका आकर तापसका हाथ पकड़ लेना ।)

विशा०——खबरदार !

ता०——तुम कौन ?

विशा०——पुरोहितकी हत्या मत करो । (तापसके हाथसे जबरदस्ती छुरी छीनकर फेंक देना ।)

ता०——आज आपको मैं मार न सका ।

उत्प०——यह तो मैं पहले ही जानता था !

(सब जाते हैं ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान——लंका ।

[बालकके वेशमें लीला और कुवेणी ।]

बा०——महारानी आप क्या सोच रही हैं ?

कुवे०——गाढ़ भविष्यत् ।

बा०——उसकी चिन्ता करनेसे क्या होगा ? यह गाढ़ भविष्यत् घना अन्धकार है ! इस अन्धकारमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता । तब भी बड़े आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अपने भविष्यके भयसे व्याकुल रहता है—व्यर्थ समय नष्ट करता है ।

कुवे०——नहीं तो फिर वह और क्या सोचे ? भूतकाल—बीती हुई बातें ?

बा०—क्यों इसमें बुराई ही क्या है ?

कुवे०—जो बीत गया वह तो बीत ही गया ।

बा०—लेकिन फिर भी भविष्यत्से वह अच्छा ही है गुरूजी ! बीती हुई बातोंसे फिर भी कुछ शिक्षा मिल सकती है ।

कुवे०—भूत, सच पूछो तो विज्ञान है और भविष्यत्—कवित्व है ।

बा०—भूत माता है और भविष्यत् पत्नी है ! भूत सदा करुणाकी तरह स्नेहपूर्वक गले लगाकर रोता है, मस्तक पर आशीर्वादकी वर्षा करता हुआ रोता है, और भविष्यत् केवल देखा करता है, केवल नालिश किया करता है ।

कुवे०—भूतकी स्मृतिका मूल्य है । यह अतीत पतितके लिये मधुर है । वह कहा करता है—"हाय रे वह दिन !"

बा०—वह दिन सदा ही "हायरे वह दिन !" है । मनुष्य वर्त्तमान सुखके दिनोंमें सदा ही भूतकी ओर देखकर कहता है—"हाय रे वह दिन !" मनुष्य भी कितना बड़ा कृतघ्न है !

कुवे०—क्यों ?

बा०—मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदा शिकायत करता रहता है । अपनी अवस्था देखकर कोई सुखी नहीं है । वर्त्तमान उसके लिये कभी यथेष्ट नहीं होता । बीती हुई बाल्यावस्था सदा ही "हाय रे वह दिन !" रहती है । लेकिन मैं तो समझता हूँ कि बाल्यावस्थामें बिलकुल सुख नहीं है ।

कुवे०—क्यों ?

बा०—रोज नया सबक याद करना भला किसे अच्छा मालूम होता होगा । घरपर पिताजी और पाठशालामें गुरूजी । एक तरफ शेर और दूसरी तरफ समुद्र । समझमें नहीं आता कि किधर जायँ । उस समय मनमें आता है कि कहीं रास्तेमें ही एक छाता लेकर बैठे रहें ।

कुवे०—तुम्हारे गुरुजी क्या तुम्हें बहुत मारते थे ?

बा०—और नहीं तो क्या ! इसीलिये तो मैं देश छोड़कर भागा।

कुवे०—और तुम्हारे पिताजी ?

बा०—वे मारते तो नहीं थे पर घुड़कते बहुत थे।

कुवे०—तुम्हारी माँ जीती है ?

बा०—नहीं।

कुवे०—विवाह हुआ है ?

बा०—शायद हुआ है, लेकिन ठीक याद नहीं है।

कुवे०—याद नहीं है ?

बा०—हाँ याद नहीं आता।

कुवे०—आश्चर्य्यकी बात है !

बा०—बड़े आश्चर्य्यकी बात है !

कुवे०—विजयसिंहजीके साथ तुम्हारी कितने दिनोंसे जान पहचान है ?

बा०—पूर्वजन्मसे। पूर्वजन्ममें मैं उनकी स्त्री था।

कुवे०—स्त्री थे ?

बा०—हाँ स्त्री था।

कुवे०—पूर्वजन्ममें वे तुमसे प्रेम करते थे ?

बा०—वे तो मेरा मुँह भी नहीं देखते थे।

कुवे०—क्यों ?

बा०—शायद इस लिये कि मैं देखनेमें सुन्दर नहीं था।

कुवे०—नहीं, तुम तो देखनेमें बहुत सुन्दर जान पड़ते हो।

बा०—हाँ, कुछ ऐसा बुरा भी नहीं हूँ।

कुवे०—नहीं, असल बात यह है कि विजयसिंह प्रेम करना जानते ही नहीं। उन्हें यह भी नहीं मालूम कि प्रेम करना किसे कहते हैं।

बा०—क्यों ? आपके तो वे खूब पालतू हो गये हैं।

कुवे०—मैंने तो मंत्रके बलसे उन्हें अपने वशमें कर रक्खा है । इसी जादूकी छड़ीके जोरसे मैं उन्हें अपने वशमें रखती हूँ । प्रेमसे नहीं ।

बा०—तौ भी आप उन्हें अपने वशमें तो रखती हैं !

कुवे०—लेकिन उससे तृप्ति नहीं होती ।

बा०—क्यों ?

कुवे०—यह हृदयकी भूख है । तुम अभी बालक हो, प्रेमके सम्बन्धमें अभी तुम क्या जानोगे !

बा०—नहीं, मैं कुछ कुछ तो जानता हूँ ।

कुवे०—जानते हो ?

बा०—हाँ, आप मेरी परीक्षा ले लीजिए ।

कुवे०—अच्छा, बतलाओ तो प्रेम कैसा होता है ।

बा०—प्रेम दो तरहका होता है ।

कुवे०—किस किस तरहका ?

बा०—एक प्रेम तो वह है कि जिसके कारण सदा यही जी चाहता है कि जिसे हम चाहते हैं वह केवल हमारा ही होकर रहे । उसमें यह नहीं देखा जा सकता कि उसपर और भी कोई प्रेम करे । वह प्रेम फूलोंके समान कोमल और क्षीण भुजाओंसे एक संसारको जकड़ रखना चाहता है—एक अगाध अस्थिर समुद्रको अपने हृदयमें बन्द करके रखना चाहता है ।

कुवे०—तुमने बहुत ठीक कहा । मेरा प्रेम ऐसा ही है—सर्वग्रासी, अधीर, असह्य और अस्थिर । संसारमें मैं और किसीको नहीं जानती, किसीको नहीं मानती, कुछ नहीं चाहती, केवल उन्हींको चाहती हूँ । यह चन्द्रमा, यह समुद्र, यह ठाठ-बाट बिलकुल अच्छा नहीं मालूम होता, केवल चित्रसा जान पड़ता है । मस्तिष्कमें एक

ही चिन्ता, हृदयमें एक ही भाव, जीवनका एक ही लक्ष्य, इस समयका एकमात्र सुख—बस उनका प्रेम।

बा०—मैं समझ गया, आप प्रतिदानके लिये व्याकुल हैं। लेकिन श्रीमती! एक और तरहका भी प्रेम होता है—जो प्रेम जगतके कल्याणके लिये अपने आपको सदा जागृत रखता है, अपनेको विश्वमय बना देता है; और दूसरोंको सुखी करके स्वयं सुखी होता है। यदि उनका प्रेम मुझे एक कण भी मिल जाय तो मैं अपने आपको धन्य समझूँ। लेकिन यदि न मिले तौ भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मैं उस प्रेमकी आशा नहीं करता। श्रीमती! आप एकबार इस प्रकारका प्रेम भी कर देखें। उस समय आप समझ लेंगी कि अब भय नहीं है, दुबिधा नहीं है, उद्वेग नहीं है और चिन्ता भी नहीं है।

कुवे०—ये सब तो कहनेकी बातें हैं।

बा०—यदि मैं यह भी मान लूँ कि ये सब कहनेकी बातें हैं तौ भी आप उसी मंत्रका जप कीजिए—कामनाहीन प्रेमका जप कीजिए।

कुवे०—केवल कामना-हीन प्रेम! यह तो केवल एक बात है।

बा०—यदि केवल बात ही हो तौ भी क्या उसका कुछ मूल्य नहीं है? बात—शब्द—ध्वनिमात्र यदि बराबर कानोंमें पड़ती रहे तो सम्भव है कि किसी शुभ मुहूर्त्तमें वह हृदयका द्वार खुला पाकर उसमें प्रवेश कर जाय। हमारे देशके लोग सदा ईश्वरका नाम जपते रहते हैं—केवल जपते हैं और कुछ नहीं करते। लेकिन जान पड़ता है कि इस जपनेका कोई गूढ़ अर्थ है। सम्भव है कि कोई संयोग पाकर वही निराकार, नित्य निरंजन, वही ईश्वरका नाम कोई आकार धारण कर ले, सम्भव है कि उसी एक शब्दसे किसी समय हृदयकी वीणा बज उठे। और अवश्य ही ऐसा हुआ भी है; नहीं तो लोग जप क्यों करते हैं?

कुवे०—बालक, तुम कौन हो?

बा०—महारानी ! यही तो इतने दिनोंतक मेरी समझमें नहीं आया। यह तो कुछ कुछ मैंने समझ लिया कि आप कौन हैं, लेकिन यही मेरी समझमें न आया कि मैं कौन हूँ। मैं कौन हूँ ? इस संसारमें क्यों आया हूँ? देश छोड़कर विदेशमें क्यों घूम रहा हूँ ? मैं क्या चाहता हूँ? क्यों प्रेम करता हूँ ? यदि मैं प्रेम न भी करता तो भी उससे उनका क्या बनता–बिगड़ता था ? क्या वे भी कभी मुझे समझ सकेंगे ?

कुवे०—वे कौन ? बालक ! तुम किसको चाहते हो ?

बा०—छिः छिः छिः ! मैं क्या कह गया, क्या कह गया ! महारानी ! वे आपके हैं, मेरे कोई नहीं हैं, कोई नहीं हैं ! (प्रस्थान ।)

[धीरे धीरे विजयका प्रवेश ।]

कुवे०—यह मेरे प्रीतम आ रहे हैं। (जल्दीसे आगे बढ़कर) आओ ! आओ ! प्राणेश्वर ! नाथ ! वल्लभ ! सर्वस्व ! मैं नहीं जानती कि मैं तुम्हें क्या कहूँ। क्यों जी ! तुम मुझसे प्रेम करते हो ?

विजय०—अभी यहाँ वह बालक था ?

कुवे०—नाथ ! तुम उसकी चिन्ता क्यों करते हो ? जो था सो था। अब तो तुम आ गए हो, और कोई नहीं है। केवल तुम हो और मैं हूँ, और कोई नहीं है। संसारमें और कुछ भी नहीं है—चन्द्रमा और सूर्य्य नहीं हैं, आकाश और नक्षत्र नहीं हैं, सागर और पर्वत नहीं हैं, वन और जंगल नहीं हैं। केवल तुम और हम हैं ! यही दोनों संसार हैं, यही दोनों वासना हैं, यही दोनों चेतना हैं, यही दोनों सृष्टि हैं, यही दोनों प्रलय हैं, यही दोनों स्वर्ग हैं और यही दोनों नरक हैं।

विजय०—कुवेणी ! क्या तुम पागल हो गई हो ?

कुवे०—हाँ प्यारे, मैं तुम्हारे प्रेममें पागल हो गई हूँ। प्यारे, मैं तुम्हें बहुत चाहती हूँ—बहुत ही अधिक चाहती हूँ।

विजय०—यह तो तुम अनेक बार कह चुकी हो।

कुवे०—लेकिन फिर भी जी नहीं भरता। और कुछ कहनेको जी ही नहीं चाहता, और कुछ कह भी नहीं सकती, और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। और जो कुछ मुझे आता था वह सब मैं भूल गई। अब मैं केवल एक ही बात जानती हूँ—" तुम्हें प्यार करती हूँ।" यह बात कितनी मीठी है, इसमें कितना माधुर्य्य है, कितना सघन आनन्द है, कितना भाव है, कितना छन्द है, कितने नए नए छुपे हुए गूढ़ अर्थ हैं, कितने धन-रत्न, कितने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कितनी शान्ति, कितनी पुण्य-राशि, कितने जन्म—जन्मान्तर हैं! नाथ!—संसारमें प्यारके सिवाय और है ही क्या? केवल इसीको निकाल लीजिए, फिर देखिए, यहाँ और क्या बच रहता है? केवल धूल और राख रह जाती है।

विजय०—कुवेणी! तुम इतनी अस्थिर—इतनी उद्दाम-प्रवृति हो! तुम तो बिलकुल पहेली सी जान पड़ती हो।

कुवे०—क्यों?

विजय०—जिस दिन पहलेपहल हमारी तुम्हारी बातचीत हुई थी उस दिन, याद है, तुमने मुझसे क्या कहा था?

कुवे०—क्या कहा था?

विजय०—तुमने रानीके समान बड़ी शानसे गरदन टेढ़ी करके और तर्जनी उँगली हिलाकर कहा था—" भिक्षुक! मैं तुम्हें यह रूप दान करती हूँ। भिक्षा लो" और आज तुम इस प्रकार कातर होकर निवेदन कर रही हो। भिक्षुकोंकी तरह दीन प्रार्थना कर रही हो।

कु०—तुमको अपना सर्वस्व देकर ही तो मैं भिखारिणी बन गई हूँ। एक दिन मैंने बड़े अभिमानसे कहा था—" क्या मैं विवाह करूँगी? किससे विवाह करूँगी? संसारमें मेरे समान कौन है, जिसके

साथ मैं विवाह कर सकूँ ? ” इसके बाद मैंने तुम्हें देखा । मैंने समझा कि बस यही इस योग्य हैं, जिनके साथ मैं विवाह करूँ । वही जिन्हें ग्रीष्मकी कड़ी धूपमें, शरत्के मनोहर प्रभातमें, वर्षा ऋतुके नए बादलोंमें देखा था । मैंने समझ लिया कि ये वही हैं, जिनका स्वर मैंने समुद्रके घोषमें, मृदंगकी ध्वनिमें, बादलकी गरजमें, उल्लासके उच्च हास्यमें, भक्तके कीर्त्तनमें सुना था । ये वही हैं, हृदयमें मैंने जिनका अनुभव सत्यके प्रकाशमें, सरल विश्वासमें, और त्यागीके संन्यासमें किया था । मैंने तुम्हें देखा, पहचाना, और एक ही बारमें अपना सब कुछ दे दिया ।

विजय०—क्यों दे दिया ? तुमसे किसने माँगा था ?

कुवे०—क्यों दे दिया ? यह तो मैं स्वयं नहीं जानती ! बड़े ही आश्चर्य्यकी बात है ! क्यों दे दिया !—वह भी मैं ही थी और यह भी मैं ही हूँ ।

विजय०—कुवेणी ! तुम क्या सोच रही हो ?

कुवे०—बाल्यावस्थामें ही मैं बड़ी उद्दामप्रवृत्ति थी । वनोंमें, जंगलोंमें, और रेतमें अस्थिर वासनासे मैं बेरोक घूमा करती थी । मानो कोई मुझे अंकुश मारकर चला रहा हो । मैं क्रोधसे मत्त, सुखसे अभिमानपूर्ण, वासनासे अन्ध, दुःखसे ज्वालामय और आनन्दसे अधीर रहती थी । यही कुवेणीका पिछला इतिहास है । इसके बाद—

विजय०—इसके बाद—

कुवे०—नहीं, नहीं, मैंने भिक्षा नहीं दी थी। मैंने अपने राजाको राजकर दिया था । अशान्त शेरनीने किसी जादू या मन्त्रके बलसे अपने स्वामीको पहचान लिया और यह झुककर उनके पैरोंपर गिर पड़ी और लोटने लगी । उद्दण्ड प्रवृत्तिके दुर्बल उच्छ्वासका अन्त होगया । तूफानके

बाद यह क्षुब्ध समुद्र शान्त होकर सूर्य्यकी अर्चना करने बैठ गया। तुमने क्या कर दिया प्यारे! तुमने क्या कर दिया!

विजय०—क्यों मैंने क्या कर दिया?

कुवे०—मैंने तुम्हें अपना सब कुछ दे दिया! रूप, यौवन, स्वदेश, सिंहासन, पुरानी गरिमाकी स्मृति, बाप, माँ, अपना पराया, सब कुछ दे दिया। एक बारगी मैंने सब कुछ तुम्हें दे दिया। मैं राजकुमारीसे दासी हो गई। और मैंने ही अपनी माँको एक बार इसी विषयमें झिड़का था।—माँ! माँ! क्षमा करना। तुम मुझे क्षमा करना। (हाथ जोड़कर और घुटने टेककर बैठना।)

विजय०—यदि तुम्हें इसमें कुछ आपत्ति हो तो तुम सब कुछ फेर लो। मैं चला जाऊँ।

कुवे०—नहीं, नहीं। तुम मत जाओ। जानेका नाम भी न लो। मैं तुम्हें छोड़ न सकूँगी। मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी। लो, लो, तुम सब कुछ ले लो। मेरे पास जो कुछ है वह सब तुम ले लो और जो नहीं है उसके लिये मुझे क्षमा करो! यह रूप क्या है! कुछ भी नहीं। यदि यह रूप सौगुना भी होता तो मैं इसे अर्घ्यके समान तुम्हारे चरणोंमें अर्पित कर देती। और यह द्वीप भी बहुत ही छोटा है! तुम्हारे योग्य नहीं है। अब न तो क्रोध है, न अभिमान है, न दुःख है, न सुख है, न इच्छा है और न भूख है!—है केवल अनन्त उल्लास!—अनन्त क्रन्दन—अनन्त नरक।

विजय०—नरक!

कुवे०—मैं क्या कह रही हूँ। मत सुनो—मैं जो कुछ कहती हूँ उसे मत सुनो। आज मैं पागलोंकी तरह बकवाद कर रही हूँ। मेरा दिमाग खराब हो गया है। विकार! विकार! अनन्त दाह!—मैंने सब कुछ दे दिया! यदि मेरे पास और भी कुछ होता तो वह भी दे देती!

मेरा प्रेम भूखेका ग्रास है—वह आकर भूखका कण्ठरोध कर देता है। मैं पागल हो गई हूँ। मेरी बातें न सुनो। हाँ, मैं गाती हूँ, मेरा गाना सुनो।

विजय०—हाँ प्यारी, गाओ।

कुवे०—मैं गाती हूँ, लेकिन पहले जरा मेरे इन प्यासे होठोंको अपने चुम्बनका अमृत दे दो। मैं उस अमृतको पी लूँ—अमर हो जाऊँ। देश जाय, पिता-माता जायँ, मैं भी जाऊँ।—अब मैं गीत गाती हूँ।

विजय०—गाओ, गाओ। रुको मत। गाओ। चिन्तासे मेरा उद्धार करो।

कुवे०—किस बातकी चिन्तासे?

विजय०—तुम क्या समझोगी कि मुझे किस बातकी चिन्ता है। यह तुम्हारा देश है—तुम उसकी गोदमें झूला झूलती हो—आनन्द करती हो। लेकिन मैं तो अपना देश छोड़कर—

कुवे०—इतने दिनोंमें भी तुम अपने देशको न भूल सके?

विजय०—क्या स्वदेश कभी भूला जा सकता है? सुखमें दुखमें, विपद्में सम्पद्में, प्रकाशमें अन्धकारमें, गौरवमें अपमानमें,—स्वदेश सदा स्वदेश ही है।

कुवे०—वही स्वदेश जिसने तुम्हें निर्वासित कर दिया है!

विजय०—स्वदेशका तिरस्कार माताके तिरस्कारके समान है—वह मधुर ही होता है।

कुवे०—यह लंका तुम्हें अच्छी नहीं लगी? इसका इतना स्नेह, इतनी सुप्ति, इतना सौन्दर्य्य तुम्हें अच्छा नहीं लगा?

विजय०—कुवेणी! मैं तुम्हारे द्वीपकी निन्दा नहीं करता। यह द्वीप अपूर्व है। फल, फूल, वन, पर्वत, उपत्यका, उपवन सभी बातोंमें यह देश अपूर्व है। यह मानों एक मायाका देश है। गम्भीर समुद्र इसके प्राकारको चारों ओरसे घेरकर क्रुद्ध भुजंगकी तरह मानों पहरा दे रहा

है। इसकी वायुमें लौंगकी लताकी सुगन्ध भीनी हुई है। इसका आकाश सदा स्निग्धोज्ज्वल रहता है। यहाँ सदा वसन्त विराम करता है। लेकिन—

कुवे०—लेकिन क्या ?

विजय०—लेकिन विमाता चाहे कितना ही स्नेह क्यों न करे, पर फिर भी वह विमाता ही है। कुवेणी ! बाल्यावस्थामें ही मेरी माता मर गई थीं। उनके प्रेमका मुझे अच्छी तरह ध्यान नहीं आता। तब भी रह रहकर मुझे उनकी वह मनोहर, सकरुण और स्नेहपूर्ण लोरी याद आती है, जिसे गाकर वे मुझे सुलाती थीं—इतने दिनोंपर भी उस मनोहर-वंशी-ध्वनिका मुझे कुछ कुछ स्मरण बना हुआ है। माता मुझे बाल्यावस्थामें ही छोड़कर स्वर्ग सिधारीं। तबसे वही जन्मभूमि मेरी माता हुई। उसी दिनसे—

कुवे०—क्या ! तुम बोलते बोलते चुप हो गए !

विजय०—कुवेणी ! क्या संसारमें मेरे समान और भी कोई दुखी है ? मैंने अपनी दोनों माताएँ खो दीं। कुवेणी ! क्या तुम जानती हो कि रातके समय जब तुम सुखसे सोई हुई थीं–जिस समय तुम्हारा यह गोरा शरीर शुभ्र शय्यापर उसी तरह पड़ा हुआ था जिस तरह समुद्रकी रेत पर ज्योत्स्ना पड़ती है–उस समय मैं महलकी छतपर चला गया था और मुँड़ेरपर हाथ रखकर इस अशान्त और दिगन्तव्यापी कृष्ण समुद्रकी ओर देखने लगा था। उस समय मेरे चित्तपटपरसे स्वदेशकी मधुर छवि मधुर स्वप्नके समान बह गई। बंगालके वे श्यामल खेत, वे धूसर नदियाँ, वह नीला निर्मल आकाश, वह चमकती हुई धूप, वे सुन्दर मलय-समीरके झोंके, वह कोयलोंकी कूक, वे मल्लाहोंके गीत मुझे याद हो आए और आँखोंके सामनेसे क्षुद्र वर्त्तमान लुप्त हो गया। कुवेणी ! क्या स्वदेश कभी भूला जासकता है ? और फिर ऐसा स्वदेश–जिसके पवनमें सुगन्ध, निकुंजमें संगीत, वृक्षोंमें अमृत, झरनोंमें माताकी

स्तन-धार और आकाशमें देवताओंका आशीर्वाद हो—कभी भूल सकता है । वह किसानोंका अन्नभरा आँगन, सती स्त्रियोंकी हँसी, माताका स्नेह, पिताका—

कुवे०—नाथ ! यह क्या ! सहसा तुमने सिर नीचे क्यों कर लिया ?

विजय०—नहीं, नहीं, तुम गाओ, नाचो, कोलाहलमें वर्त्तमानके डुबा दो—

कुवे०—(नाचनेवालियोंसे) तुम लोग नाचो ।

विजय०—लाओ, शराब लाओ । (सहेलियोंका शराबका प्याला लाकर विजयसिंहके होठोंसे लगाना और विजयसिंहका शराब पीना) प्यारी, तुम गाओ ।

कुवे०—(गाती है)

ठुमरी झँझौटी ।

मन चाहे तो प्यारे ! चले आना यहीं ।
चले आना यहीं, चले आना यहीं ॥ मन० ॥
जहाँ सुख पाओ वहीं चले जाओ नाथ,
मैं न लगा सकती निज दुःखको तुम्हारे साथ ।
तुम सुखी रहो तो सब पूजे मेरी साध,
पर हाँ मनमें निराशा कभी लाना नहीं ॥
मन चाहे तो प्यारे० ।
हो सकता है तुम्हें और कोई मिल जावे,
मुझसे भी अधिक और वह प्रेम दिखलावे ।
सब साध मिट जायँ कसक भी हट जावे,
पर निराशाके दुखको उठाना नहीं ॥
मन चाहे तो प्यारे० ॥
चले जाओ पगसे इस दिलको कुचल करके,
अथवा लगाओ दिलसे उस दिलपर धरके ।

पर वह सदा रहेगा तुम्हारे वश पड़के,
मेरी दुखियाकी सुधि बिसराना नहीं ॥
मन चाहे तो प्यारे चले आना यहीं ।
चले आना यहीं, चले आना यहीं ॥
मन चाहे तो प्यारे० ॥

(गीत सुनते सुनते विजयसिंह सो जाते हैं ।)

कुवे०—नाथ! तुम चुप क्यों हो? सो गए! चल, चल, शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु चल। मेरे प्यारेकी थकावट दूर कर!—विजय! प्यारे! प्राण-वल्लभ! मैं तुम्हें क्यों इतना चाहने लगी?—(पास जाकर मुँह देखना) दीपक बुझा दूँ। (दीपक बुझा देती है) वाह कैसी अद्भुत शोभा है! दीपककी लाल आभामें ऐसी शुभ्र चन्द्र-किरणोंकी राशि छिपी हुई थी! ज्योत्स्ना घरमें आकर मानो इस बाहरी सौन्दर्य्यका उत्सव देखनेके लिये मनुष्यके पैर पकड़कर बैठ गई है! समुद्र उन्मुक्त उदार गरिमासे मानों हिल रहा है। ऊपर चाँदनी रात है! वाह! कैसी शोभा है!

[जुमेलियाका प्रवेश।]

जुमे०—महारानी!

कुवे०—क्या है जुमेलिया? क्या हुआ?

जुमे०—आप नीचे दरवाजा खुला छोड़ आई थीं?

कुवे०—क्यों?

जुमे०—महलमें शत्रु घुस आए हैं।

कुवे०—कौन कहता है?

जुमे०—मैंने आपके शयनागारके पास अस्फुट कण्ठ-ध्वनि और पैरोंकी आहट सुनी है!

कुवे०—तुम वहाँ क्या कर रही थीं?

जुमे०—सोई थी । अचानक मेरी नींद खुल गई और मैंने शब्द सुना । मानो पृथ्वी करवट बदलकर सो गई और वायु बोल उठी इसके बाद—

कुवे०—चलो, देखूँ । पहरेवालियाँ कहाँ हैं ?

जुमे०—इस कमरेके बाहर ! (दोनों जाती हैं ।)

[धीरे धीरे बालकका प्रवेश ।]

बालक—महारानी इन्हें अकेले छोड़कर कहाँ चली गई ? खैर जब-तक वे न आवें तबतक मैं ही इनकी रक्षा करूँ । (विजयके पास जाकर) ये तो गहरी नींदमें सोए हैं । चन्द्रमाका प्रकाश आकर मुखपर पड़ रहा है । वाह ! क्या सौन्दर्य्य है ! एकबार अपने जीवनकी साध पूरी—नहीं, केवल निहारकर देखूँ । (देखना ।)

[कुछ दूरपर कुवेणी और जुमेलियाका प्रवेश ।]

कुवे०—वह सब तुम्हारा खाली खयाल था । जाओ, मजेमें सोओ ।

बा०—केवल एक बार, इसमें बुराई ही क्या है ? एक बार मैं भी अपने जीवनकी साध मिटा लूँ । मेरे भी तो ये हैं । एक बार—(विजयसिंहका मुँह चूमना ।)

कुवे०—तुम कौन हो ?

बा०—(घुटने टेककर) क्षमा करो ! क्षमा करो ! मैंने अन्याय किया है । लेकिन मुझसे हो न सका । मैं अभागिनी हूँ । (दोनों हाथोंसे अपना मुँह ढँक लेती है ।)

कुवे०—मेरे साथ आओ । (दोनों जाती हैं ।)

[पाँच सैनिकोंके साथ विरूपाक्षका प्रवेश ।]

विरू०—(ठमक कर) यही तो है । गहरी नींदमें सोया हुआ है । अकेला है ।—इतने सहजमें मेरा काम हो जायगा, यह तो मैंने स्वप्नमें भी नहीं सोचा था । सो रहा है ! यह बेचारा क्षुद्र युवक है, पर समरमें

अजेय वीर है—आश्चर्य्य ! किस तरह चुपचाप पड़ा है !—जरा भी हिलता डोलता नहीं । केवल साँस आने जानेके कारण छाती हिल रही है ! कैसी गहरी नींदमें सोया हुआ है ! नहीं, इस सोए हुए कोमल शरीरपर मुझसे हथियार न चलाया जायगा । जो बात मैंने अपने जन्ममें कभी नहीं की वह आज भी मुझसे नहीं होगी । अच्छा जगा देता हूँ । विजयसिंह ! वीरवर ! उठो ।

विजय०—(उठकर) पिताजी ! हैं ! यह क्या ! मैं कहाँ हूँ ? यह तो पिताजी नहीं हैं ! यह तो जन्मभूमि नहीं है !—स्वप्न ! स्वप्न ! —तुम कौन हो ?

विरू०—विरूपाक्ष !

विजय०—क्या चाहते हो ?

विरू०—अस्त्र लो और मुझसे युद्ध करो ।

विजय०—क्यों ?

विरू०—मैं या तो तुम्हें मारूँगा और या स्वयं मरूँगा । बस मैं यही चाहता हूँ । और कुछ नहीं ।

विजय०—इसका कारण ?

विरू०—कारण बतलानेकी आवश्यकता नहीं । मैं तुम्हें मार डालनेके लिये आया था । लेकिन मैंने देखा कि तुम सोए हुए बालकके समान असहाय हो, तुमपर लंकाके आकाशकी चाँदनी आकर पड़ रही है और लंकाकी हवासे तुम्हारी काली अलकें हिल रही हैं । मैं हत्या न कर सका । सदासे मैंने युद्ध ही किया है । हत्या कभी नहीं की । इसीसे मैं आज भी तुम्हारी हत्या न कर सका । अब तुम अस्त्र लो । (विरूपाक्षका अपने हाथकी तलवार विजयसिंहको दे देना और एक दूसरे सैनिककी तलवार स्वयं ले लेना ।)

विजय०—अच्छी बात है । मैं तैयार हूँ ।

(दोनोंका लड़ना । विरूपाक्षका घायल होकर गिर पड़ना ।)

विरू०—जननी ! मैं तुम्हारा उद्धार न कर सका । अब बिदा होता हूँ !

[घबड़ाई हुई कुवेणीका प्रवेश ।]

कुवे०—नाथ ! यह क्या ? यह क्या ?

विजय०—(धीरेसे कुवेणीको हटाकर) वीरवर विरूपाक्ष ! मैं समझ गया । तुम्हारी चीज मैं लौटा दूँगा ।

विरू०—कौनसी चीज ?

विजय०—जानते हो, मैं स्वप्नमें अभी क्या देखता था ? मैं देखता था कि मैं अपनी जन्मभूमिमें हूँ, पास ही मेरे पिताजी खड़े हैं और पासके दूसरे कमरेकी खुली हुई खिड़कीमें दो आँखें हैं, जिनमेंसे आँसू बह रहे हैं । वीरवर ! अब मैं इतने दिनोंके बाद तुम्हारी चीज तुम्हें लौटा दूँगा ।

विरू०—तो फिर मैं भी बड़े सुखसे मरूँगा ।

विजय०—वीर ! मुझे क्षमा करो । कुवेणी तुम भी क्षमा करो—और हे परमेश्वर, तू भी क्षमा कर !

विरू०—भारतीय वीर ! तुम इतने बड़े महानुभाव हो !

तीसरा दृश्य ।

[जंगलमें सिंहबाहु और सुमित्र ।]

सिंह०—इस घने जंगलका तो कहीं अन्त ही नहीं है ।

सुमित्र०—बीच बीचमें केवल दलदल और नदी है ।

सिंह०—सुमित्र ! बस इन्हीं जंगली सूअरोंको मारकर खाना, इसी खारे जलमें स्नान करना और पेड़के नीचे सो रहना—कुछ बुरा नहीं है।

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—रातको चारों ओर आग जलाकर सोते हैं—आगके बाहर जंगली जानवर गरजते हैं, ऊपर वृक्षोंके पत्ते दीर्घ श्वास लेते हैं, और सबसे बढ़कर हृदयमें असीम क्रन्दन होता है—बस इन्हीं सबके बीचमें अपने आपको डालकर सो रहते हैं। इसमें भी, नींद भी तो आवे !

सु०—पिताजी ! रातको रह रहकर मुझे बड़ा डर लगता है। आपको नहीं लगता ? जिस समय शेरकी गरज सुनाई पड़ती है—

सिंह०—हैं ! शेरकी गरज सुनकर डरते हो ? सिंहराशिमें हमारा जन्म हुआ है, सिंह हमारा पिता है, उसी सिंहको मारकर हम राज्य करते हैं। समझे ?

सु०—यह क्या कहते हैं पिताजी !

सिंह०—इसी वन-शोभामें हमारा लड़कपन बीता है। जंगली पशुओंके राज्यमें हम निडर होकर घूमे हैं, जंगली लोगोंके साथ तीर-धनुष लेकर लड़े हैं। भला हमें डर लगेगा ! यह चेहरा देखते हो ! सिंहकी तरह नहीं मालूम होता ?

सुमित्र—पिताजी ! यह खून काहेका है ?

सिंह०—खून ! भेड़का खून है, शेरने उसे धर दबायां है। खून ! खून ! मैं पीऊँगा—मैं पीऊँगा।

सुमित्र—पिताजी !

सिंह०—पीऊँगा—खून पीऊँगा।

सुमित्र०—पिताजी, मुझे डर लगता है।

सिंह०—जानते हो, शेर और बाघ अपनी ही सन्तानको खाते हैं ?

सुमि०—पिताजी, सुना है—

सिंह०—हम भी अपनी सन्तानको खाना चाहते हैं । एक लड़केको तो खा चुके हैं, तुमको भी—बीच बीचमें सोचते हैं—उसी पेटमें रख लें । आज हमारा—

सुमित्र—पिताजी ! आज क्या ? आप इस तरह मेरी ओर क्यों देख रहे हैं ?

सिंह०—आज इस घोर जंगलमें, इस खूनभरी जमीनपर, इस भयानक एकान्तमें हमारे अन्दरका वह जंगली जानवर फिर जाग उठा है—आज हमें फिर भूख लगी है । आज हम तुम्हें खायँगे—जरूर खायँगे । लो, तलवार लो, लड़ो ।

सु०—पिताजी, यह क्या !

सिंह०—पिताजी, पिताजी, मत कहो । जो हमारे अन्दर है वह आज फिर खलबली मचा रहा है । आज फिर वह पाशव भूख जाग उठी है । बस, वही खून—खून चाहते हैं । तलवार निकालो । मुझसे युद्ध करके मरो भइया ! स्वर्ग मिलेगा । (तलवार उठाना)

सुमित्र—पिताजी, मुझे न मारिए, मुझे न मारिए । (सिंहबाहुके गलेसे लिपट जाता है । सिंहबाहुके हाथसे तलवार गिर पड़ती है ।)

सिंह०—नहीं नहीं । इस कोमल स्पर्शसे हमारी सारी क्रूरता जाती रही । हममें फिर अनुकम्पा आगई और मनुष्यत्व जाग उठा । स्नेहका स्पर्श इतना शीतल है ! मनुष्यके भीतर मनुष्यकी इतनी शक्ति है ! आओ बेटा, हमारी गोदमें आओ । हमारे प्राण शीतल हों !

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी !

सिंह०—बस बस, स्नेहसे हमारा मन पिघल गया । तुम्हारे इन आँसुओंने मेरा सारा पशुत्व बहा दिया ।

सुमित्र—यह काहेका शब्द है ?

सिंह०—हाँ, यह डाकू चिल्ला रहे हैं ! वनमें डाकू लोग किस चीज-पर डाका डालते होंगे ?—फल-मूलोंपर ?

सुमित्र—फिर आवाज आई ! अब तो और भी पास आ गए—इसी ओर आ रहे हैं ।

सिंह०—आने दो ।

[डाकुओंका प्रवेश ।]

पह० डा०—अरे यहाँ तो आदमी हैं !

दू० डा०—हाँ !

प० डा०—(आगे बढ़कर) तुम लोग कौन हो ?

सिंह०—तुम लोग कौन हो ?

प० डा०—हम तो डाकू हैं ।

सिंह०—तो खड़े रहो । हम फैसला करेंगे ।

प० डा०—तुम कौन हो ?

सिंह०—हम इस देशके राजा हैं । जानते हो, डाकुओंके लिये क्या दण्ड है ?

दू० डा०—अरे पागल है ।

सिंह०—नहीं हम तुम्हें जाने नहीं देंगे । हमारे राज्यमें डकैती ! हम तुम लोगोंको दण्ड देंगे । बेटा सुमित्र ! इन लोगोंको पकड़ो ।

(सुमित्र तलवार लेकर डाकुओंपर आक्रमण करता है ।)

प० डाकू—अरे वाहरे लड़के !

(सुमित्रका लड़कर दो डाकुओंको गिरा देना ।)

सिंह०—शाबास ! बेटा शाबास ! जिसका ऐसा लड़का हो वह सचमुच राजा है । धन्य बेटा ! जानसे मत मारो । खाली घायल करके छोड़ दो । कैद कर लो । हम राजा है—विचार करेंगे ।

(दूसरे डाकुओंके सुमित्रका साथ युद्ध ।)

सिंह०—शाबास !

(डाकुओंका सुमित्रको घेर लेना ।)

सिंह०—हटके खड़े हो । युद्ध देखने दो ।

सुमित्र—(घेरेमेंसे) पिताजी !

सिंह०—लो हम भी आ गए । (तलवार लेकर डाकुओंके घेरेमें प्रवेश करना । इतनेमें सुमित्रका घायल होकर गिर पड़ना । डाकुओंको मारते और हटाते हुए सिंहबाहुका सुमित्रके पास पहुँचना और उसके पास घुटने टेककर बैठ जाना ।)

सुमित्र—पिताजी ! अब मैं मरा ।

सिंह०—बेटा, तुम तो बहुत घायल हो गए !

पह० डा०—इसे भी खतम करो ।

दूस० डा०—अच्छी बात है ।

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी ! डाकू आपपर भी वार करना चाहते हैं । अपने आपको बचाइए ।

सिंह०—तुम तो चले बेटा, अब हम जीकर क्या करेंगे ? बेटा मेरे !

(सिंहबाहुका सुमित्रसे लिपट जाना । डाकुओंका सिंहबाहुपर आक्रमण करना ।)

सिंह०—अच्छा, आओ । जरा देखें कि अब इन सिंह-बाहुओंमें कितनी शक्ति है । आओ लड़ो ।

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी ! सावधान । मैं भी आता हूँ । (तलवारके सहारे उठकर सिंहबाहुकी ओर बढ़ना ।)

पह० डा०—अरे, यह तो फिर उठ खड़ा हुआ !

दू० डा०—इसे भी साफ कर दो ।

(दोनोंका सुमित्रको मारनेके लिये तलवार उठाना ।)

सुमित्र—पिताजी ! पिताजी !

सिंह०—आए, बेटा !

(सिंहबाहुका दौड़कर आगे बढ़ना, पर पैर फिसल जानेके कारण जमीनपर गिर जाना, तलवारका हाथसे छूटकर दूर जा पड़ना, और पड़े पड़े सुमित्रसे अच्छी तरह लिपट जाना ।)

सुमित्र—पिताजीको मत मारो, पिताजीको मत मारो ! पिताजी ! मुझे छोड़ दीजिए ।

(डाकुओंका सिंहबाहुको मारनेके लिये तलवार उठाना । इतनेमें भैरवका आकर जोरसे चिल्लाना—" ठहरो ! " उठी हुई तलवारोंका उसी दशामें रह जाना ।)

भैरव—सुमित्रकी आवाज नहीं सुनाई पड़ी ?—कौन महाराज ! प्रणाम । मैं हूँ भैरव डाकू !

सुमित्र—भैरव भइया !

भैरव—मुझे भइया कहकर पुकारा है —तो अब डरकी कोई बात नहीं है । भाइयो ! तलवारें झुका लो । इन लोगोंको उठा ले चलो ।

चौथा दृश्य ।

स्थान—लंकाका कारागार ।

[बालकके वेशमें लीला ।]

बालक—उस दिन पहले पहल बड़े बुरे समयमें बिना सोचे समझे अपना प्रभुत्व खो दिया । अपनी साधनाको कामनासे बिगाड़ डाला । ईश्वरने उसीका यह दण्ड दिया है । तुम्हारी जय हो !—यह क्या ! बगलमें और भी एक कोठड़ी है !—यह कौन ?

[द्वार खोलकर जुमेलियाका प्रवेश ।]

जुमे०—यह और कौन है ! तुम कौन ?

बा०—यही तो मैं भी सोच रहा हूँ ।

जुमे०—तुम तो औरत हो ! तुम यहाँ कैसे आई ?

बा०—यही तो !

जुमे०—तुम्हें उन्होंने कैद किया है ?

बा०—अब तो मालूम ऐसा ही होता है ।

जुमे०—और पहले ऐसा नहीं मालूम होता था ?

बा—०पहले किसीने कुछ कहा ही नहीं था।

जुमे०—पहरेदारने क्या कहा था ?

बा०—उसने आते ही मेरे हाथोंमें हथकड़ी पहना दी। मैंने पहले सोचा कि मेरा ब्याह करनेके लिये ले जा रहा है।

जुमे०—तुमने समझा कि ब्याह करनेके लिये ले जा रहा है !—हथकड़ी पहनाकर ?

बा०—क्यों, इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है! यह भी हथकड़ी है वह भी हथकड़ी है। फरक यही है कि यह हथकड़ी तो खुल सकती है पर वह हथकड़ी जन्मभर नहीं खुलती ।

जुमे०—बहुत ठीक ! तब फिर क्या हुआ ?

बा०—इसके बाद वह मुझे ठीक यहाँ ले आया। यहाँ आकर उसने मुझसे कहा कि अब तुम यहीं रहना। मैंने पूछा कि क्या मेरे और कहीं रहनेमें कोई हर्ज है ? उसने कहा—'हाँ।' तब मैंने समझा कि मैं कैद हूँ।

जुमे०—तब फिर तुम कैदी हो !

बा०—अब तो इस विषयमें मालूम होता है कोई सन्देह नहीं है ! क्यों ?

जुमे०—नहीं।

बा०—चलो, छुट्टी हुई।

जुमे०—क्यों ?

बा०—पहले मुझे अपनी अवस्था जाननेके लिये कुछ फिक्र हुई थी। पर अब वह फिक्र जाती रही।

जुमे०—तुम्हें उन्होंने कैद क्यों किया ?

बा०—यह भी तो तो किसीने अभीतक मुझे नहीं बतलाया।

जुमे०—क्यों, तुम्हें नहीं मालूम ?

बाल०—नहीं तो।

जुमे०—क्यों—तुम्हें क्या मालूम होता है ?

बा०—मालूम होता है कि शायद मेरी शकल कुछ खराब है, इसी लिये !

जुमे०—तुम्हारी शकल तो बहुत अच्छी है।

बा०—आपको अच्छी मालूम होती है ?

जुमे०—हाँ, हमें तो अच्छी जान पड़ती है।

बा०—अच्छा, तो जब हमारी इस कैदका अन्त हो जाय, तबका, तुम्हें हमारे यहाँका न्योता रहा ।

जुमे०—क्यों ?

बा०—मुझसे जब कोई यह कहता है कि तुम्हारी सूरत बहुत अच्छी है तब मुझे बड़ा आनन्द होता है। और फिर ऐसी बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होता ? इस लिये इस न्योतेमें मेरी कोई तारीफ नहीं है। ज्यों ही यहाँसे मेरा छुटकारा हो, त्यों ही तुम मेरे यहाँ विजितपुर, चली आना। समुद्रके किनारे नीले रंगका ति-मंजिला मकान है। तुम तो यहाँका सब हाल जानती हो—यह यहाँका कारागार ही है न ?

जुमे०—हाँ।

बा०—कारागार तो बहुत अच्छा है। इस द्वीपकी सभी बातें अद्भुत हैं—सभी बातें मायामय हैं। हाँ, यहाँ खानेको क्या क्या चीजें दी जाती हैं ?

जुमे०—अच्छी अच्छी चीजें।

बा०—लँगड़ा आम देते हैं? बिना उसके मुझे तो बड़ी तकलीफ होगी । सवेरे उठते ही मुझे पाँच लँगड़े आम चाहिए ।

जुमे०—रोज ?

बा०—हाँ रोज—चाहे गरमी हो और चाहे जाड़ा ? मेरी आदत ही कुछ ऐसी पड़ गई है ।

जुमे०—जाड़ेमें लँगड़ा आम कहाँ मिलेगा ?

बा०—क्या करूँ ? मैं लाचार हूँ । मुझे तो चाहिए ही ।

जु०—लड़की ! तेरा दिमाग खराब हो गया है ।

बा०—यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई ।

जुमे०—खुशी हुई !—क्यों ?

बा०—इससे इतने दिनों बाद यह बात मालूम हुई कि मेरे दिमाग भी है । अगर दिमाग न होता तो खराब कहाँसे होता ?

जुमे०—तुम क्या समझती थीं कि तुम्हारा दिमाग ही नहीं है ?

बा०—हाँ, मेरा तो यही खयाल था ।—तुम्हारी सूरत तो बहुत अच्छी है !

जुमे०—तुम्हें अच्छी मालूम होती है ?

बा०—बहुत अच्छी मालूम होती है । तुम्हें तैरना आता है ?

जुमे०—नहीं ।

बा०—नहीं ? अच्छा तो मुझसे सीख लेना !

जुमे०—तुम मनुष्य हो ?

बा०—हाँ ! बात तो ऐसी ही है । जान पड़ता है तुम लोग यक्ष हो?

जुमे०—हाँ, यक्ष हैं ।

बा०—तब तो और भी अच्छी बात है । तुमसे बहुतसी बातें सीखनेको मिलेंगी । तुम लोग हाथसे ही खाते हो ?

जुमे०—हाँ ।

बा०—अच्छा करते हो। और सोते भी लम्बे पड़कर ही हो ?

जुमे०—और नहीं तो क्या !

बा०—इसी तरह सोना ठीक भी है। स्वप्न भी देखते हो ?

जुमे०—हाँ देखते हैं।

बा०—अब न देखना। और खाते तो खूब होगे ?

जुमे०—क्या ?

बा०—यही गन्ना। लंकामें गन्ना खूब होता है। लेकिन सबसे बढ़-कर लँगड़ा आम होता है जिसे खानेका मुझे अभ्यास हो गया है। यह कारागार तो बहुत अच्छा है !

जुमे०—क्यों ?

बा०—यहाँ पानीकी लहरोंका शब्द खूब सुनाई पड़ता है।—इस मकानके चारों तरफ पानी है न ?

जुमे०—हाँ, चारों तरफ पानी है।

बा०—वे सब क्या हैं ?

जुमे०—हवा आनेके लिये झरोखे।

बा०—बहुत ठीक। यह तो आकाश ही दिखाई पड़ता है न ?

जुमे०—हाँ।

बा०—मालूम होता है कि यह बाहर जानेका रास्ता है।

जुमे०—हाँ।

बा०—और मालूम होता है कि ये लोग पहरेदार हैं।

जुमे०—हाँ।

बा०—इन्तजाम तो बहुत अच्छा है। तुम यहाँ अचानक कैसे आगई ?

जुमे०—हमारी महारानी आती हैं।

बा०—वे कहाँ हैं ?

जुमे०—यह क्या आरही हैं । अच्छा तो मैं अब जाती हूँ । (प्रस्थान ।)

[कुवेणीका प्रवेश ।]

ली०—ये महारानी आगईं ।

कुवे०—बड़े आश्चर्यकी बात है ! यह क्षुद्र, क्षीण, सामान्य जीव ! इसके लिये--लड़की ! तू मंत्र जानती है ?

ली०—श्रीमती !

कुवे०—बतला, तूने किस मंत्रके बलसे विजयको अपने वशमें किया है ।

ली०—वशमें किया है ?

कुवे०—बोल अधम जादूगरनी, नहीं तो—यह छुरी देखती है ?

ली०—महारानी, मेरी समझमें तो कुछ भी नहीं आता ।

कुवे०—ढंग मत रचो । तुम सब जानती हो । जो कुछ मैं पूछती हूँ, सब सच सच बतला दो ।

ली०—पूछिए ।

कुवे०—तुम विजयसिंहसे प्रेम करती हो ?

ली०—आपने तो सब कुछ अपनी आँखोंसे देख लिया है । तब फिर पूछती क्यों हैं ?

कुवे०—विजयसिंह तुमसे प्रेम करते हैं ?

ली०—कौन कहता है ?

कुवे०—तुम नहीं जानतीं ?

ली०—मैं तो नहीं जानती । लेकिन,—नहीं, यह हो नहीं सकता । वे तो यह भी नहीं जानते कि मैं स्त्री हूँ ।

कुवे०—झूठी कहींकी !

ली०—श्रीमती ! मैंने स्वयं हाथमें हाथ देकर आप लोगोंका विवाह कराया है। मैंने अपने गलेका कौस्तुभ रत्न स्वयं उतार कर आपके गलेमें पहना दिया है । अब आप और क्या चाहती हैं ? जिस समय आप लोग क्रीड़ा कौतुक करते तथा आनन्दसे हँसते बोलते थे और जिस समय मेरे शरीरका खून उबलता था, उस समय भी मैं हँसती थी। आप लोगोंका मिलन-सम्भोग मैंने खड़े खड़े देखा है—उसे देखकर मैं चक्कर खाकर गिर नहीं पड़ी हूँ। अब आप और क्या चाहती हैं ?

कुवे०—मैं और क्या चाहती हूँ ? मैं अपने विजयसिंहको चाहती हूँ।

ली०—वे तो आपको मिल गए हैं।

कुवे०—मिल गए हैं ! उन्हें मैंने जादू-मंत्रके बलसे मुग्ध कर रक्खा है। मैंने छलसे उनपर अधिकार कर रक्खा है। लेकिन मैंने अभी उन्हें पाया नहीं है। राक्षसी ! उनके हृदयपर तूने अधिकार कर रक्खा है। ऐसी दशामें मैं खाली प्राणहीन शिथिल आलिंगन लेकर क्या करूँ ? वे तेरे हैं, मेरे नहीं।

ली०—महारानी ! मैं सत्य कहती हूँ, भगवान् साक्षी हैं, उन्हें अबतक यह भी नहीं मालूम कि मैं स्त्री हूँ ।

कुवे०—छद्मवेशिनी वेश्या ! फिर झूठ बोलती है ?

ली०—(बहुत गम्भीरतासे) महारानी ! मैं उनकी वेश्या नहीं हूँ।

कुवे०—तब कौन हो ?

ली०—मैं कुलवधू हूँ ।

कुवे०—तुम उनकी स्त्री हो ?

ली०—हाँ, मैं उनकी स्त्री हूँ ।

कुवे०—तब क्या तुम विजयसिंहके साथ——

ली०—मैं उनके साथ भाग आई हूँ।

कुवे०—तुम उनकी प्रेमिका हो ?

ली०—इससे भी कुछ बढ़कर ।

कुवे०—बढ़कर ?

ली०—हाँ, मैं उनकी स्त्री हूँ । मैं उनकी तनख्वाहदार नौकर हूँ ! मैं क्या उन्हें कभी छोड़ सकती हूँ ?

कुवे०—(बगलें झाँककर) झूठ बोलती है ।

ली०—रानी ! तुम जरा मेरी तरफ तो देखो । क्या मैं झूठी मालूम होती हूँ ? यदि मैं वेश्या होती तो लांछित, देशसे निर्वासित, पिताकी लात खाए हुए, एक दरिद्र अभागेके साथ दीन और दुखीके भेसमें, इस तरह देस-परदेस घूमती ? गाड़ी जिस समय ऊपरकी तरफ चढ़ने लगती है उस समय वेश्या उसे ही पकड़े रहती है और जब नीचेकी तरफ उतरने लगती है तब वह उस परसे छलाँग मारकर अलग हो जाती है । वेश्या केवल सम्पन्नावस्थामें साथ देती है । विपदके समय साथ नहीं देती ।

कुवे०—तुम तो उनकी स्त्री हो । तब फिर भला यह कभी हो सकता है कि इस प्रकार भेस बदलनेपर वे तुम्हें न पहचानें ?

ली०—उन्होंने अपनी विवाहिता स्त्रीका कभी मुँह भी नहीं देखा ।

कुवे०—क्यों ?

ली०—वे स्त्रियोंसे यों ही अलग रहते हैं । इसीलिये मैं बालकका वेश धरकर उनके साथ चल पड़ी थी ।

कुवे०—इसीलिये तुम कुलवधू होकर भी घर छोड़कर और भेस बदलकर उनके साथ देस-परदेस घूम रही हो !

ली०—महारानी ! सतीके लिये उसका पति ही घर, पति ही सर्वस्व है । सीताजी श्रीरामचन्द्रजीके साथ वनमें गई थीं । स्त्रियोंको जल्दी मौत नहीं आती, इसी लिये ।—नहीं तो क्या जो स्त्रीको देख भी न सके,

उसीको अपना सर्वस्व और आधार मानकर वह जीवन धारण करे! धिक्कार है।

कुवे०—क्यों जी! तुम मुझसे भी प्रेम करती हो?

ली०—हाँ, क्यों नहीं करती!

कुवे०—मुझसे क्यों प्रेम करती हो?

ली०—जब मेरे पति तुमसे प्रेम करते हैं, तब भला यह कैसे हो सकता है कि मैं तुमसे प्रेम न करूँ!

कु०—तब तुम्हें एक काम करना पड़ेगा।

ली०—वह क्या?

कुवे०—तुम अपने देश लौट जाओ।

ली०—यह क्यों महारानी!

कुवे०—अब तुम विजयसिंहका मुँह न देख सकोगी।

ली०—तब फिर भला मैं और क्या देखूँगी? संसारमें मेरे देखनेके लिये और रह ही क्या जायगा? क्या मैं वह शत-इन्दुविनिन्दित म्लान मुख, जिसमें मानो किसीने अमृत भर दिया है, वह योगीकी साधनाका धन, इस विश्व सौन्दर्य्यका परम सौन्दर्य्य, न देख सकूँगी? क्या यह कभी हो सकता है? तुमने भी तो वह मुँह देखा है, क्या तुम अब उसे बिना देखे रह सकती हो? सच बतलाओ, रह सकती हो?

कुवे०—इससे तुम्हें क्या मतलब कि मैं रह सकती हूँ या नहीं? तुम्हें यह काम अवश्य करना होगा।

ली०—नहीं, मुझसे नहीं हो सकेगा।

कुवे०—तुम्हें करना पड़ेगा, नहीं तो—

ली०—तुम मुझे मार डालो।

कुवे०—नहीं, मैं तुम्हारी आँखें फोड़ दूँगी। प्रतिज्ञा करो—

ली०—लेकिन मैं प्रतिज्ञा क्योंकर कर सकती हूँ महारानी ! जिस प्रतिज्ञाका पालन मुझसे न हो सके मैं वह प्रतिज्ञा नहीं करूँगी ।

कुवे०—नहीं तो याद रक्खो, मैं तुम्हें अन्धी कर दूँगी ।

ली०—नहीं नहीं, तुम मुझे अन्धी न करो । मेरे सारे अंग तोड़ दो, पर मुझे अन्धी न करो । केवल उनको देखने दो । विधाता ! अपने विराट् कारखानेमें मेरे सारे अंग गलाकर उनसे केवल दो आँखें बनाकर तैयार कर दो । मैं अनन्त युगतक जी भरके उन्हें देखा करूँ ।

कुवे०—तुम्हींने कहा था न कि देखनेका प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है । प्रेम कुछ चाहता नहीं है, वह देकर ही सुखी होता है । जरा मैं भी देखूँ कि वह प्रेम तुम कर सकती हो या नहीं ।

ली०—मैंने कहा तो जरूर था, पर मुझसे हो क्यों कर सकता है ? मेरी साधना तो वही है, लेकिन मैं अबला हूँ । मैं दिन-रात ईश्वरसे यही वर माँगती हूँ कि हे दयामय ! मुझे वही प्रेम करना सिखाओ । किन्तु हृदयमें उसके लिये उतना बल नहीं है ।

कुवे०—व्यर्थ ही बकवादमें समय नष्ट न करो । प्रतिज्ञा करो ।

ली०—मुझसे प्रतिज्ञा न हो सकेगी ।

कुवे०—तो फिर क्या यही तुम्हारा पक्का संकल्प है ?

ली०—हाँ, जो काम मुझसे हो ही न सकेगा वह मैं किस तरह करूँगी ।

कुवे०—अच्छा, मैं देखती हूँ कि वह काम तुमसे हो सकता है या नहीं । जाओ, जलती हुई लोहेकी सलाख ले आओ ।

(पहरेवाली स्त्रीका जाना और जलती हुई लोहेकी सलाख लेकर आना ।)

कुवे०—अच्छा, तैयार हो जाओ ।

ली०—महारानी, मुझे क्षमा करो । मुझे अन्धी न करो । मैंने अपना सर्वस्व तुम्हें सौंप दिया है । सिर्फ उसे देखनेके अधिकारसे मुझे वंचित

न करो । मैं और कुछ भी नहीं चाहती । मुझे उनके पैरोंके पास बाँध-कर रख दो । मैं उन्हें केवल देखूँगी ! अभी मेरा देखना पूरा नहीं हुआ । मुझे अन्धी न करो ।

कुवे०—तुम किससे प्रार्थना कर रही हो ? मैं तो बहरी हूँ । मुझे कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता । तैयार हो जाओ ।

ली०—दया करो ।

कुवे०—मैं दया-माया कुछ भी नहीं जानती । हाँ—

(कुवेणीका लोहेकी सलाखसे लीलाको अन्धी करनेके लिये तैयार होना; इतनेमें विजयसिंहका आ पहुँचना ।)

विजय०—ठहर जाओ ।

(कुवेणीका रुककर विजयकी ओर देखना ।)

विजय०—तुम कौन हो ?

कुवे०—मैं तुम्हारी प्रणयिनी ।

ली०—मैं तुम्हारी विवाहिता पत्नी ।

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—लंका ।

[विजित, अनुराध और उरुवेल ।]

विजित—क्या कहा ? भइयाने इस द्वीपको भी छोड़ देनेकी आज्ञा दी है ?

अनु०—जी हाँ ।

विजित—बड़े ही विलक्षण आदमी हैं ।

उरु०—उनका कुछ पता ही नहीं लगता । युद्धमें ऐसे दुर्जय वीर !

चौड़ी छाती, चमकता हुआ मुखमण्डल, दोनों आँखोंसे चिनगारियाँ सी छूटती हैं । पर जहाँ युद्ध समाप्त हुआ वहाँ फिर वही दीन, संकुचित स्वरूप और मलीन निष्प्रभ मुख ।

अनु०—लंकाकी राजकुमारीके साथ विवाह होनेके थोड़े दिनों बाद-तक तो खूब आनन्द-मंगलमें दिन बिताए । पर इधर कई दिनोंसे फिर वही चिन्तापूर्ण शून्य दृष्टि । ऐसा जान पड़ता है कि मानो उनका मन अपना शरीर छोड़कर फिर इस समुद्रके उस पार बह गया है । बुलाने पर भी उत्तर नहीं देता ।

विजित—मैंने भी लक्ष्य किया है । लो, आ ही तो रहे हैं । अब तुम लोग जाओ । (अनुरोध और उरुवेलका प्रस्थान ।)

[दूसरी ओरसे विजयका प्रवेश ।]

विजित—भइया ! आपने यह द्वीप भी छोड़ देनेकी आज्ञा दे दी ?

विजय०—कौन ?

विजित—मैं हूँ, विजित । आप मुझे पहचानते नहीं ! भइया आप ऐसे क्यों हो गए हैं ?

विजय०—कैसे ?

विजित—आपने यह द्वीप छोड़ देनेकी आज्ञा दी है ?

विजय०—हाँ ।

विजित—तब तो मालूम होता है कि आप पागल हो गए हैं ।

विजय०—(सूखी हँसी हँसकर) हाँ मालूम तो ऐसा ही होता है ।

विजित—अब यह लंका आपको अच्छी नहीं मालूम होती ?

विजय०—यह भयानक जगह मुझे अच्छी लगेगी ! यहाँ नींद आती है, बड़ी नींद आती है । यहाँके लोग मंत्र जानते हैं । भागो, भागो ! यहाँसे जल्दी भागो !

विजित—भइया, आपके मनमें कोई एक बड़ा भारी दुःख जाग उठा है ?

विजय०—(सहसा) इस जगहपर ! इस जगहपर ! (विजितका हाथ अपनी छातीपर रखकर) ओफ़ ! दिन रात कोई करकर करके काट रहा है । मुझे सुनाई पड़ता है । (कान झुकाकर) देखो तो कितना साफ़ सुनाई पड़ता है !

विजित—अब अपने देश लौट चलिए ।

विजय०—(सहसा विजितके कन्धेपर हाथ रखकर) विजित !

विजित—(चौंककर) क्या ?

विजय०—तुम—तुम सब लोग देश लौट जाओ ।

विजित—क्यों ?

विजय०—मुझे लौटकर वहाँ जानेका अधिकार नहीं है । मैं तो देशसे निकाल दिया गया हूँ । मेरे देशके राजाने—मेरे देवताने मुझे परित्याग कर दिया है ।

विजित—भइया ! पिताजीके सामने भला ऐसा अभिमान शोभा देता है । चलिए, देश चलें ।

विजय०—नहीं, मैं देश नहीं जाऊँगा ।

विजित—क्यों ?

विजय०—क्यों एक अभागे ज्ञानशून्य पागलके साथ देस-परदेस घूम रहे हो ? अपने देश जाओ, विवाह करो, सुखी बनो ।

विजित—यह बात तो आप कई बार कह चुके हैं ।

विजय०—क्यों इस सूखे पंजरके साथ असीम स्नेह करते हुए चिमड़े हुए हो ? तुम लोगोंके शरीरमें इसकी हड्डी भी नहीं गड़ती ?—जाओ ।

(प्रस्थान ।)

[पागलोंकी तरह जयसेनका प्रवेश ।]

जय०—यह क्या !

विजित—कौन ? जयसेन !

जय०—जल्दी आओ ! जल्दी आओ !

विजित—कहाँ ?

जय०—मेरे साथ ।

विजित—कहाँ ।

जय०—इस जंगलमें । विपत्तिमें पड़ी हुई एक बेचारी स्त्रीकी रक्षा करो ।

विजित—क्यों, उसे क्या हुआ है ?

जय०—उसे जीती जला रही है ।

विजित—कौन ?

जय०—महारानी ।

विजित—क्यों ?

जय०—मालूम नहीं । पहले चलो, उसे बचाओ । तब फिर सब हाल पूछना ।

विजित—कुमार ! तुम ठीक कहते हो । स्त्री और विपत्तिमें पड़ी हुई ! यही बहुत है ! इसमें और पूछनेकी बात ही कौनसी है ! —चलो । (दोनोंका प्रस्थान ।)

[विजय और सुमित्रका प्रवेश ।]

विजय०—कैसे आश्चर्यकी बात है । पहले तो मैंने सोचा कि क्या मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ ! बस यहीं बैठो ! तुमसे बातें पूछूँ । बहुतसी बातें पूछनेको हैं ।—पिताजी अच्छी तरह तो हैं ! क्यों ? चुप क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ? तो क्या पिताजी अब इस संसारमें नहीं हैं ? जल्दी बताओ ।

सुमित्र—पिताजी बचे हुए हैं ।

विजय०—फिर—

सुमित्र—वे राज्यसे निकाल दिए गए हैं और जंगलमें रहते हैं ।

विजय०—यह क्यों ?

सुमित्र—अंगदेशके महाराजने बंगदेश जीत लिया है ।

विजय०—हैं !

सुमित्र—यह क्या ! भइया, आप इस तरहसे मत देखिए !

विजय०—नहीं नहीं । अच्छा, विमाताका क्या हाल है ?

सुमित्र—भइया, आप उन्हें क्षमा कर दीजिए ।

विजय०—हो नहीं सकता । वे कहाँ हैं ?

सुमित्र—वे मृत्युके उस पार (आकाशकी ओर दिखलाकर) वहाँ हैं । उन्हें क्षमा करो ।

विजय०—पिताजी तो अच्छी तरह हैं न ?

सुमित्र—हाँ, अच्छी तरह हैं । भइया माँको क्षमा कर दीजिए ।

विजय०—भइया सुमित्र ! मैं देवता नहीं हूँ, मनुष्य हूँ—साधारण मनुष्य हूँ ! मनुष्य जो कुछ कर सकता है वह मैं भी कर सकता हूँ । जो काम मनुष्यसे न हो सकेगा वह मुझसे भी न हो सकेगा । जो विमाता —नहीं भाई, नहीं, मैं तुम्हारे चित्तको कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा ।—हाँ तो पिताजी कभी मुझे भी याद करते हैं ?

सुमित्र—भइया, आपके जिक्रके सिवा उनके मुँहसे तो और कोई बात ही नहीं निकलती । बस दिनरात 'विजय' 'विजय' करते रहते हैं । मानो कोई भक्त ईश्वरका नाम जपता हो ।

विजय०—क्या कहा ? सच ? क्या यह बात सच है ? कहो, कहो, फिर एक बार यही बात कहो ।

सुमित्र—रोते रोते उनकी दोनों आँखें जाती रही हैं । समुद्रके किनारे एक कुटी बनाकर उसीमें बैठे रहते हैं । दिखाई तो देता ही नहीं, फिर भी नित्य सन्ध्याको समुद्रके किनारे बैठकर टक लगाये देखा

करते हैं। जहाँ कोई आवाज हुई कि चट चिल्ला उठते हैं—" यह मेरा विजय आ रहा है। "

विजय०—(पागलोंकी तरह) विजित ! विजित !

सुमित्र—(पकड़कर) हैं यह क्या भइया !

विजय०—छोड़ दो।—विजित नाव खोल दो ! चलो देश चलें। पिताजी ! आता हूँ ! मैं आता हूँ। विजित ! विजित !(जल्दीसे प्रस्थान।)

दृश्यान्तर।

[विजयके साथी गाते हैं।]

होकर धन्य धराने गाया, चरण-कमल तव चूमि।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि " ॥
सद्यःस्नान-वस्त्र गीला है, जलधि-वारि-कण भींगे बाल,
वदन दीप्त है विमल हँसीसे, मा, तेरा है भाल विशाल।
नाँच रहे हैं नभमें घिरकर तारे और दिवाकर चन्द्र,
तेरे पगपर मन्त्र-मुग्धसा अब्धि गरजता घनसा मन्द्र ॥
होकर धन्य धराने गाया, चरण-कमल तव चूमि।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि ॥ "
जानु-लग्न है सागर-लहरी, तेरे सिर हिम-मुकुट-बहार,
नदियोंका मानो तेरे उर, झूल रहा है मुक्ता-हार।
कभी तप्त मरु, ऊषरकी तू भीषण छवि दिखलाती है,
कभी विश्वके श्याम शस्यमें हँसती देखी जाती है।
हो कर धन्य धराने गाया चरण-कमल तव चूमि।
" जगन्मोहिनी, जगज्जजन्मदे, जय मा भारतभूमि ॥ "
शून्य गगनमें प्रबल वायु भी निशदिन चलती रहती है,
तेरे पग-रस चूस कोकिला हरदम कलरव करती है।
नभमें वज्र चलाकर बादल प्रलय-वृष्टिको करता है,
कुसुम-कुञ्ज तेरे चरणों पर, गन्ध-सृष्टिको करता है।

होकर धन्य धराने गाया चरण-कमल तव चूमि ।
" जगन्मोहिनी जगज्जन्मदे, जय मा भारतभूमि ॥ "
तेरा हृदय शान्ति-सागर है कण्ठ अभयका दाता है,
तेरे करों अन्न पाता जग मुक्ति पगोंसे पाता है ।
तेरे तनय सहें कितने दुख या कितने आनन्द करें,
जगपालिनि, जगतारिणि, जगकी जननी, भारतभूमि अरे ।
होकर धन्य धराने गाया चरण-कमल तव चूमि ।
" जगन्मोहिनी, जगज्जन्मदे, जय मा भारत-भूमि ॥ "

छठा दृश्य ।

[आग जल रही है । पहरेवालियोंसे घिरी हुई लीला
और उसके सामने कुवेणी ।]

कुवे०—नहीं जुमेलिया ! मैं कुछ भी न सुनूँगी । आज मैं अपनी आँखोंके सामने विजयकी प्रेमिकाका अन्त्येष्टि-संस्कार करूँगी ।

जुमे०—लेकिन श्रीमती ! इससे क्या होगा ?

कुवे०—हाँ, होगा तो कुछ भी नहीं, लेकिन मेरे सुखका संसार भस्म हो गया है । इस लिये आज मैं और सब लोगोंके घर भी भस्म करके चल दूँगी । क्या मेरा सर्वनाश करके विजय सुखी होंगे ? मैं उनका सुख निर्मूल किए देती हूँ ।

जुमे०—श्रीमती ! मैं आपसे बारबार कहती हूँ कि आप ऐसा काम न करें ।

कुवे०—क्यों न करूँ ? मेरा और कौन है, तुम्ही कहो ।

जुमे०—लेकिन इससे क्या होगा ?

कुवे०—और सब सुखोंकी आशा तो गई । अब मुझे इसीमें सुख मिलेगा ।

जुमे०—अब भी आपके लिये एक रास्ता है । लेकिन इससे तो आपका वह रास्ता भी सदाके लिये बन्द हो जायगा ।

कुवे०—बन्द हो जाय, सब जल भुनकर राख हो जाय । जब गया है तब सभी जाय ।

जुमे०—लेकिन इससे लाभ क्या होगा ?

कुवे०—लोग क्या लाभ और हानिका ही विचार करके हँसते, रोते, द्वेष करते और क्रुद्ध होते हैं ? विजयसिंह चले जायँगे न ? जायँ । ओह ! लेकिन क्या अच्छा होता यदि मैं उनको रोक सकती ! विजयसिंह जाते हैं तो जायँ ! लेकिन यदि मेरे भोग्यको यह भोग करना चाहे तो मैं इसे भोग नहीं करने दूँगी ।

जुमे०—लेकिन यह तो बिलकुल अन्ध प्रवृत्ति है ।

कुवे०—सभी प्रवृत्तियाँ अन्ध होती हैं !—पुरोहितजी ! सब ठीक है न ?

ता०—हाँ श्रीमती, सब ठीक है ।

कुवे०—अच्छा इसे अग्निकुण्डमें डाल दीजिए । लेकिन नहीं, जरा पहले एक बार मेरे पास ले आइए ।

[तापसका लीलाको कुवेणीके पास ले आना ।]

कुवे०—विजयसिंहकी प्रेमिका, जानती हो, तुम्हें इस अग्निकुंडमें जलकर मरना होगा ।

ली०—हाँ जानती हूँ ।

कुवे०—क्यों, भय लगता है ?

ली०—(व्यंगसे हँसकर) भय ! जो हिन्दू सती अपने पतिके मृत शरीरको गोदमें लेकर हँसती हुई जलती चितापर चढ़ जाती है उसे इस अग्निसे भय होगा ? लेकिन हाँ, यह जरा—(हँसकर) जल्दी हुई ।

कुवे०—यह क्या ! तुम हँसती हो ?

ली०—यह तो मेरा स्वभाव है। मैं गँवार स्त्री हूँ। जरा अदब-कायदा नहीं जानती। मुझे क्षमा करना।—अच्छा महारानी, अगर इस समय मैं एक गीत गाऊँ तो कोई हर्ज है?

कुवे०—गीत गाओगी?

ली०—हाँ हाँ! मेरी समझमें तो जिस समय किसीको प्राणदण्ड दिया जाय उस समय गीत गानेकी प्रथा प्रचलित होनी चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि जिसे दण्ड मिलेगा वह गीत सुनता सुनता जरा सुखसे मरेगा। उसकी आत्मा उस गीतकी मूर्च्छनाके साथ आवेगसे, आनन्दसे, काँपती हुई इस नीले आकाशमें मिल जायगी।

कुवे०—इसे मार डालो, नहीं तो यह मुझपर जादू कर देगी।

ली०—नहीं बहन, मैं जादू-वादू कुछ भी न करूँगी।

कुवे०—ले जाओ।

ली०—मुझको किसीके ले जानेकी आवश्यकता न होगी। मैं स्वयं जा रही हूँ। अपने पतिके साथ प्रेम करनेका दण्ड मैं सिर झुकाकर ग्रहण कर रही हूँ। मुझे जरा भी दुःख नहीं है—हाँ, यदि मरनेसे पहले एक बार मैं जरा उनका मुँह देख लेती और उन्हें देखते देखते मरती, तो स्वर्ग चली जाती। नहीं तो फिर उनकी तसवीर तो यहाँ है ही। आँखें बन्द करके उसीको देखती देखती मरूँगी।—बहन—

कुवे०—मैं कुछ नहीं सुनना चाहती! यह मुझपर जादू कर देगी! ले जाओ, इसे भस्म कर दो।

ली०—बहन, मैं अभी जाती हूँ। तुम महारानी होनेपर भी मेरी छोटी बहन ही हो। मैं अपने तन, मन और वचनसे ईश्वरसे यही प्रार्थना करती हूँ कि विजयसिंह तुम्हें मिल जायँ। जाओ बहन, तुम्हें सुख मिले—यश मिले।

(कुवेणीका मुँह फेर लेना। लीलाका निर्भय होकर चिताके पास जाना और हाथ जोड़कर प्रार्थना करना।)

ली०—हे देवाधिदेव महादेव! यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मेरे रहते स्वामीका कोई अमंगल नहीं होता; लेकिन आज मैं उन्हें छोड़कर जा रही हूँ। मैं अब उन्हें आपके समर्पण किए जाती हूँ। देखना, प्रभु!

(लीलाका गर्वपूर्वक अग्निकुण्डपर चढ़ना। चारों ओरसे जयध्वनि होना। कुवेणीका एक ओर देखकर चिल्ला उठना—"बचाओ" "बचाओ" इतनेमें विजितका आ पहुँचना और चितामेंसे लीलाको खींचकर बाहर निकालना।)

कुवे०—तुम कौन हो? तुम किसकी आज्ञासे इस स्त्रीकी रक्षा कर रहे हो?

विजित—(छातीपर हाथ रखकर) इसकी आज्ञासे।

कुवे०—मैंने इसे प्राण-दण्ड दिया है। मैं महारानी हूँ।

विजित—मैं इससे भी बढ़कर हूँ। मैं मनुष्य हूँ!

सातवाँ दृश्य।

[कुवेणी और जुमेलिया।]

कुवे०—आज मेरी आखिरी रात है! बड़ी प्रार्थना करके—भिक्षा माँगकर—लंकाकी रानी होनेपर भी भिक्षा माँगकर—मैंने उनसे एक रात माँग ली है। जुमेलिया! ऐसा न हो कि यह रात वृथा चली जाय!

जुमे०—हाय श्रीमती!

कुवे०—नहीं जुमेलिया! तुम इस तरह मेरी तरफ न देखो। तुम भी कहो कि उन्हें जाने न दूँगी। तुम भी कहो कि उन्हें जाने न दूँगी। कहो कि उन्हें पकड़ रक्खूँगी।

जुमे०—महारानी ! इस विश्वमें कौन किसको पकड़कर रख सकता है ? कौन कब स्नेहके वशमें हुआ है ? सखी ! प्रवृत्ति प्रबल है, स्वार्थ प्रबल है, भावी प्रबल है; केवल स्नेह ही दुर्बल—बहुत ही दुर्बल है।

कुवे०—नहीं, ये सब बातें मत कहो। तुम आज मेरी सहाय हो—लंकाका स्वर्ण-भाण्डार खोल दो। स्वर्णसे जो कुछ खरीदा जा सकता है, एक जाति जो त्याग कर सकती है, वह सब उनके पैरोंपर रख दो। वे क्या मनुष्य नहीं हैं ? मैं देखूँ कि मुझसे हो सकता है या नहीं। सजे-सजाए कमरेमें उन्हें ले जाकर रत्नजड़े सिंहासनपर बैठाऊँगी। वे मनुष्य ही हैं न ? सब चीजें तैयार रक्खो।—सुरा, संगीत, सुगन्ध और रोशनी ! देखूँ, आज मैं अपना काम कर सकती हूँ या नहीं। जुमेलिया जाओ।

(जुमेलियाका प्रस्थान।)

कुवे०—वे चले जायँगे ! मुझे छोड़कर चले जायँगे ! ऐसा रूप, ऐसा प्रेम, ऐसी शक्ति, ऐसा ऐश्वर्य, ऐसा सम्भोग छोड़कर वे चले जायँगे ! वे ही दुर्जय वीर जो इतने दिनोंतक मेरी उँगलीके इशारेपर बैठते थे, उठते थे, हँसते थे, रोते थे, क्या वे ही अब—नहीं मैं उन्हें जाने न दूँगी—अच्छा, आओ ! स्वर्गके नन्दनकानन ! आज मर्त्यलोकमें उतर आओ। चन्द्रमा ! अपनी स्निग्धतम ज्योत्स्नामें सारे आकाशको डुबा दो। सोनेकी लंका ! आज तू ऐश्वर्यसे जल उठ। और तुम लंकाकी रानी !—रूपकी बिजली चमकाकर इसके ऊपरसे निकल जाओ और फूलोंके हारके समान क्षीण भुजाओंकी जकड़! आज तू मृत्युकी पकड़के समान कठिन हो जा। मेरा जादूवाला डण्डा कहाँ है ? आज मैं उन्हें जाने न दूँगी।

[लीलाका प्रवेश।]

कुवे०—लो यह लड़की भी आ गई। मेरे विजय कहाँ हैं ?

ली०—आ रहे हैं।

कुवे०—तुम यहाँ क्यों आईं ?

ली०—क्यों बहन, क्या तुम्हारे पास मुझे न आना चाहिए ? तुम तो मेरी छोटी बहन हो ।

कुवे०—पिशाची ! राक्षसी ! तूने ही मुझसे मेरे विजयसिंहको छीन लिया है । राक्षसी उनको मुझे लौटा दे ।

ली०—नहीं बहन, उन्हें मैंने नहीं लिया है । तुम्हारे विजय तुम्हारे ही हैं ।

कुवे०—झूठी कहींकी—

ली०—नहीं, मैं सच कहती हूँ । जो विजय बालकके साथ प्रेम करते थे वे बालिकाके साथ घृणा करते हैं। रानी !—विजयने आज मेरा परित्याग कर दिया है ।

कुवे०—सच ?

ली०—केवल इतना ही नहीं । मेरा यह कपोलोंका जला हुआ चमड़ा देखकर वे डरकर हट गए; और मैं मारे लज्जाके पृथ्वीमें गड़ गई !

कुवे०—सच ?

ली०—हाँ बिलकुल सच महारानी ! चलो अच्छा ही हुआ । मेरा प्रेमका मोह दूर हो गया । अग्निपरीक्षामें मेरी मलिनता जल गई । अब जो कुछ मेरा है वह सब शिशिरके समान पवित्र और नक्षत्रके समान उज्ज्वल है !

[जुमेलियाका प्रवेश ।]

कु०—लड़की ! यह तुम क्या कह रही हो ?

ली०—इतने दिनोंतक मैं अपने प्रेमके प्रतिफलकी इच्छा रखती थी, मुझे अपने रूपका अभिमान था, सुख और विलाससे मेरी तृप्ति नहीं हुई थी । लेकिन अब वह बात नहीं रह गई । विजयसिंह मेरे हृदयमें हैं । बाहरके विजयको मैंने तुम्हारे सपुर्द कर दिया । मैं एकबार—अन्तिमबार—

विजयसे भेंट करके सदाके लिये बिदा हो जाऊँगी। उसके बाद फिर इस संसारमें मुझे कोई देख भी न सकेगा। (प्रस्थान।)

कुवे०—जुमेलिया! इसकी ये सब बातें कुछ तुम्हारी समझमें भी आई?

जुमे०—हाँ, मैं समझ गई।

कुवे०—क्या समझीं?

जुमे०—यह लड़की पागल है। आप देखती नहीं थी कि मैं मारे भयके पीछे हटती जा रही थी।

कुवे०—क्यों?

जुमे०—कहीं काट न खाय! आइए, चलिए। सब सामान तैयार है। (प्रस्थान।)

कुवे०—तब तो इस बालिकाका कोई दोष नहीं है। स्वदेश ही उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। अब यह झगड़ा कुवेणी और बालिकाके बीचका नहीं है। अब तो स्वदेश और स्वर्गका झगड़ा है। लेकिन नहीं— विश्वास नहीं होता। वह हवा तो नहीं है, पत्थर तो नहीं है, झाड़ तो नहीं है, आखिर तो रक्त और मांसनिर्मित मनुष्य ही है, नारी ही है। यह कभी नहीं हो सकता! सब छल है! ठगाई है! मैं अपने विजयको इसके हाथमें कभी नहीं दूँगी। देखूँ यह किसतरह छीनती है। लेकिन इतना अनुनय किस लिये किया जाय? विजय जाते हैं तो जायँ न। क्या उनके बिना मैं जीती न रह सकूँगी! जायँ न। इतना झगड़ा किस लिये? इस संसारमें जहाँ विजयसिंह नहीं हैं वहाँ क्या कोई जीता नहीं रहता? जायँ!—जयसेन अभीतक क्यों नहीं आए? उन्हें बुलानेके लिये किसीको भेजा था न?

जुमे०—लीजिए, कुमार आ रहे हैं।

[जयसेनका प्रवेश।]

कुवे०—जयसेन! तुम मुझसे प्रेम करते हो?

जय०—कुवेणी! क्या तुम नहीं जानतीं कि—

कुवे०—इतनी धीमी आवाज! यह क्या! तुम्हारी तो यह ठठरी ही ठठरी रह गई है!

जय०—कुवेणी! तुम्हींने मेरी यह दशा की है।

कुवे०—मैंने बड़ा अन्याय किया, अब मैं तुम्हें अपना हृदयेश्वर बनाऊँगी।

जय०—कुवेणी! व्यर्थ ही व्यंगवचन क्यों कहती हो?

कुवे०—नहीं जयसेन, मैं सच कहती हूँ। यदि मैं तुम्हें अपना हृदयेश्वर बनाती तो एक प्रकार सुखसे ही जीवन बीत जाता। इस शान्त ह्रदके स्वच्छ जलको छोड़कर मैंने अनन्त समुद्रमें अपनी नाव क्यों डाल दी?

जय०—कुवेणी, यदि तुम मुझसे प्रेम करो तो मैं तुम्हारा खरीदा हुआ गुलाम बनकर रहूँगा।

कुवे०—इस राजत्वको छोड़कर मैं दूसरेके द्वारपर भीख माँगने गई थी! मुझे धिक्कार है! जयसेन! मैं तुमसे प्रेम करूँगी। नहीं कर सकूँगी?—क्यों नहीं कर सकूँगी?

जय०—नहीं, तुम मुझसे जरूर प्रेम कर सकोगी। हमारा तुम्हारा बचपनका साथ है। हम लोग एक ही जातिके—

कुवे०—लेकिन प्रेममें न जाने यह कौनसी विलक्षणता है कि वह समतल उपत्यकामें विचरण करना नहीं चाहता—वह पहाड़की चोटी परसे कूद पड़ना चाहता है।

जय०—कुवेणी!

कुवे०—नहीं, मैं तुम्हारे साथ प्रेम कर सकूँगी। जयसेन! मैं तुम्हारे साथ प्रेम करूँगी। तुम्हें लंकाके सिंहासनपर बैठाऊँगी। जायँ, विजय-

सिंह अपने देश चले जायँ। कौन विजय ? कहाँके विजय ? उन्हें कौन चाहता है ? आओ जयसेन !

जय०—कुवेणी ! मैं तुम्हें बहुत चाहता हूँ। (चुम्बन करना चाहता है।)

कुवे०—हैं ! स्वरमें मादकता नहीं है ! स्पर्शसे रोमांच नहीं होता ! निश्वासमें नन्दन-सौरभ नहीं है ! लो ये विजयसिंह आ रहे हैं। मेरे प्रियतम आ रहे हैं। कैसी तीक्ष्ण दृष्टि है ! गम्भीर मूर्ति है !

[विजयसिंहका प्रवेश।]

विजय०—कुवेणी कहाँ है ?—

कुवे०—कैसा मधुर स्वर है। मैं यहाँ मौजूद हूँ। नहीं, मुझसे न हो सकेगा। जयसेन, जाओ। अभी चले जाओ। नहीं तो मैं तुमसे शायद घृणा करने लगूँगी। आओ, प्यारे आओ। (विजयसिंहका हाथ पकड़कर ले जाती है।)

जय०—यहाँ तक ! कुवेणी ! मैं तुम्हारी हत्या करूँगा।

आठवाँ दृश्य।

[खूब सजा सजाया कमरा। रोशनी हो रही है।
नाचनेवालियाँ नाचती और गाती हैं।]

आओ पिया प्यारे मैं मदवा पिलाऊँ।
आके निवास करो मेरे हियमें, आज तोरे मगमें मैं नैना बिछाऊँ॥
आओ विराजो कनक-सिंहासन, रतन-जड़ी तुम पै चँवरें डुलाऊँ।
सरस, सुगंधित, कोमल, सुखकर, सीतल मलय समीर बहाऊँ।
नन्दन-काननको सुख लूटो, वीणा, मुरली, मृदंग सुनाऊँ।
कोकिल कंठ मनोहर तानें, सप्त सुरनकी उपज सुनाऊँ।
प्रेम-सुधा तोरे तन-मन भर दूँ, अंग अंगमें अनंग जगाऊँ॥आओ०॥

[सहचरियोंके साथ कुवेणीका और सहचरोंके साथ विजयका प्रवेश ।]

विजय०——हैं ! यह तो बिलकुल स्वर्ग है ।

कुवे०——नाथ ! तुमने कभी स्वर्ग देखा है ?

विजय०——नहीं ।

कुवे०——मैंने तो देखा है ।

विजय०——कहाँ ?

कुवे०——(विजयके गलेसे लिपटकर) यही मेरा स्वर्ग है । हैं ! नाथ ! तुम मुँह क्यों फेरते हो ? धीरे धीरे इस भुज-पाशसे अपने आपको छुड़ा क्यों रहे हो ? प्यारे ! मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी ।

विजय०——कुवेणी ! आँधीकी गतिको कौन रोक सकता है ? कुवेणी ! आज तुम मुझे बिदा कर दो ।

कुवे०——आश्चर्य ! पुरुष भी कैसे होते हैं ! तुम अनायास ही हँसते हुए उदासीन भावसे एक स्त्रीको प्राणदण्डकी आज्ञा दे देते हो ! इसके बाद तुम्हें भोजन भी रुचता है ? नींद भी आती है ? (स्वर काँपने लगता है ।)

विजय०——कुवेणी ! तुम नाराज मत हो ।

कुवे०——नहीं । सहेलियो ! तुम्हारे प्रभु देश लौटे जा रहे हैं । नाचो, गाओ, उत्सव करो ।——

विजय०——कुवेणी, तुम देवी हो । इसीलिये आज तुमने मेरे आनन्दमें योग देनेके विचारसे इस महोत्सवका प्रबन्ध किया है ।

कुवे०——लेकिन यह प्रबन्ध लंकेश्वरके लिये उपयुक्त नहीं है । ऐसे आनन्दके दिन——(हाथोंसे मुँह छिपा लेती है ।)

विजय०——कुवेणी ! यह क्या ?

कुवे०——कुछ नहीं । सहेलियो ! नाचो । गाओ । तुम्हारे प्रभु कल तुम लोगोंको छोड़कर चले जायँगे । फिर इस जन्ममें तुम लोग उन्हें

देख न सकोगी । अनेक बार तुम लोगोंने इनका मनोरंजन किया है । आज अन्तिम रात है । आज हम लोगोंकी अन्तिम रात है ।

विजय०—हैं ! कुवेणी ! तुम रोती हो ?

कुवे०—नहीं, आज अन्तिम रात है । आज मैं गाऊँगी—नाचूँगी ।

विजय०—गाओ—गाओ । कल मैं अपने देश चला जाऊँगा । इस लिये खूब उत्सव करो !

(नाच-गाना होता है ।)

कुवे०—देखो ! देखो नाथ !

(अचानक नाचनेवालियोंके भेसका परिवर्तन हो जाता है ।)

विजय०—वाह ! क्या खूब ! (शराब पीना ।)

(नाच होता है ।)

विजित—भइया ! अब आप अधिक शराब न पीएँ ।

विजय०—विजित ! यह तुम क्या कहते हो ? आज बड़ा भारी उत्सव है । पिताजी मेरे लिए रोए हैं । आज बड़ा भारी उत्सव है । कल सवेरे हम लोगोंका जहाज स्वदेशकी तरफ रवाना होगा । नाचो, गाओ । (शराब पीना ।)

विजित—(विजयका हाथ पकड़कर) अब आप शराब न पीजिए ।

विजय०—विजित ! मजा मत बिगाड़ो । नाचो—गाओ ।

(खूब नाच-गाना होता है । कुवेणी एक विलक्षण प्रकारका नाच नाचती हुई विजयके सिरपर जादूका डण्डा घुमाने लगती है ।)

विजय०—प्यारी ! तुम भी कितनी सुन्दर हो ! प्यारी ! यह तुमने कैसा मायाका राज्य मेरे सामने उपस्थित कर दिया ! यह तो स्वर्ग है ! और तुम क्या इन्द्राणी हो ? कुवेणी ! बस करो । यह शराब बहुत तेज है । अब बरदाश्त नहीं होती । (शराब पीना चाहते हैं ।)

विजित—(हाथ पकड़कर) अब मैं आपको शराब नहीं पीने दूँगा ।

विजय०—विजित ! तुम हट जाओ ।

कुवे०—पहरेवालियो ! इन्हें हटा दो ।

विजित—मैं यहाँसे नहीं जाऊँगा ।

कुवे०—इन्हें हटा दो । हमारे राजाकी आज्ञा है, इन्हें हटा दो ।

(एक पहरेवाली विजितका हाथ पकड़ती है ।)

पहरे०—राजाकी आज्ञा—

विजित—मैं वह आज्ञा शिरोधार्य्य करता हूँ । (सिर झुकाकर प्रस्थान ।)

विजय०—कुवेणी ! तुम कहाँ हो ?

कुवे०—नाथ ! मैं तो यहीं तुम्हारे पास हूँ । जुमेलिया ! (इशारा करती है ।)

(नाचनेवालियाँ चली जाती ह । दीपक बुझा दिए जाते हैं ।)

विजय०—कुवेणी !—

कुवे०—नाथ !

विजय०—मैं कहाँ हूँ ? स्वर्गमें या मर्त्यमें ?

कुवे०—न तो यह स्वर्ग है और न मर्त्य । यह तो सोनेकी लंका है । (जादूका डंडा घुमाती है ।)

विजय०—कुवेणी ! प्यारी ! तुम कितनी सुन्दर हो !

कुवे०—नाथ ! याद रक्खो, कल सवेरे तुम्हें अपने देश जाना है ।

विजय०—देश कहाँ—

कुवे०—कहो कि हम देश नहीं जायँगे । प्रतिज्ञा करो ।

विजय०—कुवेणी ! तुम्हीं मेरा देश हो । तुम्हीं मेरी—

कुवे०—प्रतिज्ञा करो । भारतीय वीरोंकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती । प्रतिज्ञा करो कि तुम मुझे त्याग न करोगे ।

विजय०—कुवेणी ! मैं तुम्हें त्याग करूँगा ? किसके लिये ?

कुवे०—अब तो लौटकर देश नहीं जाओगे ?

(जयसेनका जल्दीसे आना और एक तेज छुरीसे विजयको मारनेके लिये झपटना। इतनेमें बिजलीकी तरह झपटकर लीलाका बीचमें आपहुँचना और उस छुरीको अपने कलेजेपर रोक कर गिर पड़ना।)

विजय०—तुम कौन हो ?

कु०—हैं ! लड़की, यह तूने क्या किया ! पहरेदार !

[पहरेवालोंका आना।]

कु०—(जयसेनको दिखलाकर) इसे कद करो।

(पहरेवालोंका जयसेनको कैद करना। कुवेणीका लीलाकी सेवा करनेको उद्यत होना।)

विजय०—हैं ! यह तो खून है !

ली०—नहीं, मेरी सेवाकी कोई आवश्यकता नहीं। मैं इसी मृत्युके लिये प्रार्थना करती थी।

विजय०—हैं ! क्या यह बालक नहीं है ? यह भेस कैसा है ?

कुवे०—यह बालक नहीं है। यह तुम्हारी स्त्री है।

(विजय उठकर इस प्रकार खड़े हो जाते हैं कि मानों उनपर वज्रपात हुआ हो।)

ली०—प्यारे ! जब तुम मुझे बालक समझते थे तब तो मुझसे प्रेम करते थे। अब स्त्री समझ कर मुझसे घृणा मत करो।

विजय०—यह कैसा स्वप्न है ! (खम्भा पकड़कर खड़े हो जाना।)

कु०—बहन ! तुमने ऐसा क्यों किया ?

ली०—इस लिये कि मैं प्रेम करती थी ! नाथ (पैर पकड़ कर) मैं तुम्हारा हृदय नहीं चाहती। वह हृदय तुम कुवेणीको ही दो। मुझे अपने चरण दो। (हाथ बढ़ाना) अब मैं बड़े सुखसे मरूँगी।

नवाँ दृश्य ।

स्थान—समुद्रका किनारा ।

[सिंहबाहु और सुरमा ।]

सिंह०—क्यों ? विजय तो अभीतक नहीं आए !

सुर०—हाँ पिताजी, अभीतक कहाँ आए !

सिंह०—लेकिन आवेंगे । आज ही आवेंगे । हमने स्वप्नमें देखा है कि वे आवेंगे । जरूर आवेंगे ।

सुर०—स्वप्न भी कभी सच्चा होता है ?

सिंह०—हाँ, कभी कभी होता है । इतने दिनोंतक, इतने महीनों तक, इतने वर्षोंतक इसी समुद्रके किनारे बैठकर हमने उनका आसरा देखा है । आजतक तो हमने कभी स्वप्नमें नहीं देखा कि विजय आए हैं । तब कल रातको हमने स्वप्न क्यों देखा ? वे जरूर आवेंगे ।

(सुरमा चुप रह जाती है ।)

सिंह०—जानती हो कि हमने क्या स्वप्न देखा है ?

सुर०—हाँ, सुना है ।

सिंह०—नहीं, फिर सुनो । स्वप्नमें देखा है कि विजय आए हैं । उन्होंने वही सुन्दर हँसी हँसकर उसी जलद-गम्भीर स्वरमें कहा है—“ पिताजी मैं आगया । ” इतना कहकर वे हमारा पैर पकड़नेके लिये आगे बढ़े—सुरमा ! ठीक उसी दिनकी तरह पैर पकड़नेके लिये । हमने अपने दोनों पैर पीछेकी ओर हटा लिए और हाथ बढ़ाकर उन्हें पकड़ना चाहा । इतनेमें ही पैर फिसल गए और हम गिर पड़े । इसके बाद विजयने फिर पुकारा—“ पिताजी ! ”—फिर क्या हुआ सो याद नहीं है । लेकिन सुरमा ! बतला सकती हो कि हम गिर क्यों पड़े ?

सुर०—यह सब तो स्वप्नकी बात है ।

सिंह०—स्वप्न ! बेटी हमने इतना स्पष्ट और प्रत्यक्षके समान स्वप्न अपने जीवनमें कभी नहीं देखा। इतना प्रत्यक्ष—समुद्र गरजता है। क्या आँधी आती है ?

सुर०—हाँ, पिताजी !

सिंह०—बेटी !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—समुद्र ठीक उसी तरह नीला, स्वच्छ और असीम है ? ठीक उसी तरह ?

सुर०—हाँ, ठीक उसीतरह !

सिंह०—हाय ! हम अन्धे हो गए !—पहाड़, नदी, वन, समुद्र, आकाश, नक्षत्र सभी हमारे लिए एकसे हैं ! हम अन्धे हैं ! सुरमा !

सुर०—पिताजी !

सिंह०—हम आज ही ऐसे अन्धे नहीं हुए हैं। हम सदासे ऐसे ही अन्धे हैं। जब आँखें थीं तब भी ऐसे ही अन्धे थे। पहले वासनासे अन्धे थे, क्रोधसे अन्धे थे, मदसे अन्धे थे, अब शोकसे अन्धे हैं। हमारे समान दुखी और कौन है ? बेटी ! तुम बोलती क्यों नहीं ?

सुर०—क्या कहूँ पिताजी !

सिंह०—हमने राज्य खो दिया। लेकिन यदि हमारा यह साम्राज्य—पुत्र—रहता तो उसका हमें दुःख न होता। लेकिन आज हम भिखारी हो रहे हैं। कुछ नहीं—कोई नहीं है।

सुर०—पिताजी ! मैं तो हूँ।

सिंह०—(उसे धीरेसे हटाकर) वह हमारा वीरपुत्र ! उसने केवल हमारा स्नेह चाहा था—धन नहीं चाहा था, रत्न नहीं चाहा था, राज्य नहीं चाहा था, केवल स्नेह चाहा था। लेकिन वह भी हमने नहीं दिया। स्नेह न देकर उसके बदलेमें उस अंजलिमें हमने राख दे दी थी। पुत्रके

उस करुण, कातर चरण-ग्रहणको लात मारी थी! (रोकर) लात मारी थी!

सुर०—पिताजी! अब व्यर्थ रोनेसे क्या होगा?

सिंह०—सच कहती हो। पहले पेड़की जड़ काटकर फिर जल सींचनेसे क्या होगा?—सुरमा!

सुर०—पिताजी!

सिंह०—सूर्य्य अभी अस्त नहीं हुआ?

सुर०—नहीं।

सिंह०—हमारा राज्य चला गया। यदि हमारा वीरपुत्र रहता तो राज्य न जाता। सुरमा! तुम जवाब क्यों नहीं देतीं? तुम इतना कम बोलती हो?

सुर०—पिताजी! मैं कौनसी बात कहूँ!

सिंह०—हमें ढारस दो। हमें ढारस दो।

सुर०—पिताजी! यदि मेरे प्राण देनेसे भी आपके मनको कुछ शांति मिले तो मैं अभी अपने प्राण देनेके लिये तैयार हूँ। लेकिन—पिताजी, क्या करूँ!

सिंह०—नहीं नहीं, तुम अच्छी लड़की हो। हमने तुम्हें डाँटा—डपटा है और फटकारा भी है। लेकिन उसके बदलेमें तुम हमारी अन्धेकी लकड़ी हुई हो। सुरमा! रानीको हमने अन्धा कर दिया। और भगवानने हमें अन्धा बना दिया। खूब बदला चुका। क्यों? कैसा बदला चुका? सुरमा! क्यों, कैसा बदला चुका?

सुर०—मैं क्या कहूँ पिताजी!

सिंह०—अच्छा! तुम समझती हो कि विजय आवेंगे?—आवेंगे न?—विजय बड़ा ही स्नेहवान् लड़का है। सुमित्रसे सब हाल सुनकर वह जरूर आवेगा। वह हमसे बड़ा प्रेम करता है। संसारमें कोई किसी

से इतना प्रेम नहीं करता।—ऐसे लड़केको हमने लात मारी थी! (रोते हैं।)

सुर०—आप फिर रोते हैं!

सिंह०—नहीं नहीं। पश्चात्तापके समान दुर्बल और कुछ नहीं है। इससे क्या होगा?—यह किसका शब्द है!

सुर०—समुद्रके गरजनेका। पिताजी! आँधी आ रही है!

सिंह०—साथ ही साथ हमारे हृदयमें भी आँधी आ रही है।—सुरमा विजय कब आवेगा?

सुर०—अभी वे कहाँसे आए जाते हैं!

सिंह०—नहीं नहीं—वह स्नेहशील है, अवश्य आवेगा।

सुर०—लेकिन साथ ही वे बड़े अभिमानी भी हैं।

सिंह०—हाँ, बड़ा अभिमानी है!—जानती हो, जब विजय आवेगा, तब हम क्या करेंगे?

सुर०—क्या करेंगे?

सिंह०—उसे नोच खायँगे! नहीं नहीं।—उसे जोरसे गले लगा लेंगे, जिससे साँस रुक जाय और वह मर जाय। कहेंगे—"ओरे विजय! ले कितना स्नेह लेगा! ले!" ओह।—सुरमा! उस समय हमारा इतना स्नेह कहाँ छुपा हुआ था? कहाँ था? (बार बार छाती पर हाथ मारना।)

सुर०—(रोकनेकी चेष्टा करती हुई) पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं? यह क्या कर रहे हैं?

सिंह०—हाँ, यह हम क्या कर रहे हैं!

सुर०—पिताजी! आँधी आई। चलिए घर चलें।

सिंह०—नहीं, हम यहीं खड़े खड़े विजयसिंहकी राह देखेंगे।

सुर०—और राह देखनेसे क्या होगा पिता ! रात हो गई । आज भइया नहीं आवेंगे ।

सिंह०—वह आवेगा, हमने स्वप्न देखा है ।

सुर०—बिजली कड़कती है । चलिए, घर चलें ।

सिंह०—हम खाली-गोद नहीं जायँगे । विजय आ जायगा तब जायँगे ।

सुर०—वे नहीं आवेंगे ।

सिंह०—यदि वह न आवेगा तो हम इसी रेतमें रात बिता देंगे ।

सुर०—समुद्रका गम्भीर—गम्भीरतर गर्जन हो रहा है !

सिंह०—हाँ, गम्भीर संगीत हो रहा है ।

सुर०—(अचानक) पिताजी !

सिंह०—क्या ?

सुर०—मालूम होता है कि आ रहे हैं ।

सिंह०—कौन ?

सुर०—उस लहरके ऊपर एक नाव दिखाई पड़ती है ।—पालके जोरपर तेजीसे आ रही है ।

सिंह०—कहाँ ?

सुर०—वह सामने ।

सिंह०—भगवान् ! एक बार थोड़ी देरके लिये हमारी दोनों आँखें खोल दो । जी भरकर देख लें । इसके बाद फिर हमें अन्धा कर देना ।—

सुर०—पिताजी ! यह किसकी आवाज सुनाई पड़ती है ?

सिंह०—विजयकी । और नहीं तो इस प्रकार मेघके गरजनेका सा और किसका शब्द हो सकता है ? देखो, वह गा रहा है, सुनो ।

(कुछ दूरपर कोई गाता है ।)

सिंह०—अब तो आवाज और भी पास आ गई। विजय ! (आनन्दसे नाचते हैं) यही ! यही ! हमारा विजय है। (झपटकर समुद्रकी ओर दौड़ जाते हैं। इतनेमें एक लहर आकर उन्हें बहा ले जाती है।)

सुर०—पिताजी ! पिताजी ! हाय ! सर्वनाश हो गया ! (मुँह ढँक लेती हैं) ओह ! (बैठ जाती है।)

[दल-बल सहित विजय, विजित और सुमित्रका प्रवेश।]

विजय०—विजित ! बेचारी लहर क्या करेगी—जब सन्तान आप-ही आप अपनी माँकी गोदमें कूद पड़े !—यह हमारी जननी है। वह शान्तिमय जननी ! माता ! माता !—यह कौन है ? (सुरमाको झुककर अच्छी तरह देखते हैं।)

सुमित्र—अरे यह तो सुरमा है।

विजय०—हाँ, सुरमा ही तो है। बेहोश है या मर गई ? सुरमा ! सुरमा !

सुर०—कौन ?—भइया ?

विजय०—हाँ, मैं हूँ बहन !

सुर०—(उठकर) हाँ, याद आता है। पिताजी ! पिताजी ! (समुद्रकी ओर दौड़ती है।)

विजय०—सुरमा ! यह क्या करती हो ? (हाथ पकड़ लेते हैं।)

सुर०—भइया ! भइया ! (विजयकी गोदमें मुँह छिपाकर) तुमने इतनी देर क्यों की ? पिताजी !—

विजय०—पिताजी कहाँ हैं ?

सुर०—इस समुद्रके तलमें। ओह !

———

पाँचवाँ अंक ।
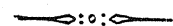
पहला दृश्य ।
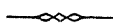
स्थान—लंका ।

[जयसेन और तापस ।]

जय०—सब तैयार है ?

ता०—हाँ, तैयार है । केरल-राजको भी मैंने इस व्रतमें दीक्षित कर लिया है ।

जय०—लेकिन केरल-राज लंकाके सिंहासनपर तो अधिकार न कर लेंगे ?

ता०—नहीं । कोई विदेशी आकर लंकाका राजा नहीं होगा । लंकाके सिंहासनपर आप ही बैठेंगे ।

जय०—और मेरे बाएँ तरफ कुवेणी—

ता०—युवराज ! आप कुवेणीकी आशा छोड़ दें ।

जय०—नहीं तापस ! यह नहीं हो सकता । आज जो मैं कुवेणीको सिंहासनसे उतारने चला हूँ वह क्रोधसे नहीं, बल्कि ईर्ष्यासे ।

ता०—ईर्ष्यासे ?

जय०—हाँ ईर्ष्यासे । इस कुवेणीको मैं बचपनसे प्यार करता हूँ । इसके बदलेमें उसने मेरे साथ सिर्फ लापरवाही की है—और कुछ नहीं । तब भी मैंने उसको प्यार ही किया है । लेकिन उस दिन—उस उत्सवकी रातको—जब उसने विजयसिंहको देखकर मुझसे कहा—'चले जाओ'—उस दिन पहलेपहल मेरे मनमें यह बात आई कि—

ता०—क्या ? युवराज आप चुप क्यों हो गए ?

जय०—मैंने सोचा कि मैं कुत्तेसे भी अधम हूँ! मैं वहाँसे चला आया। लेकिन एकाएक मुझसे वहाँसे आया भी न गया। मैं कोनेमें छिपकर विजयसिंहके साथ उसकी प्रेमभरी बातें सुनने लगा। उस समय मुझे मालूम होता था कि मानों हजारों बिच्छू मेरे कलेजेपर डंक मार रहे हैं। इसके बाद मुझसे न रहा गया। मैंने पागलोंकी तरह झपटकर छुरी चलाई। लेकिन—वह छुरी लगी एक बेचारी ब्राह्मण-कन्याको।

ता०—विजयसिंहकी रक्षा तो मानों कोई दैवी शक्ति करती है।

जय०—विजयने मुझे कैद कर लिया। लेकिन जब वे चले गए तब इस कुवेणीने अवज्ञासे हँसकर मुझे छोड़ दिया—मुझे देशसे निकाल दिया। इससे अच्छा तो यह था कि वह मुझे मार डालती। उसने मुझे मार क्यों न डाला? इतनी अवज्ञा! इतनी!—अब मैं उसे सिंहासनपरसे ही खींचकर अपनी दासी बनाऊँगा। कुवेणी देखे कि—

[बीरबलका प्रवेश।]

ता०—लीजिए, केरलराज आगए। हम लोग आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। युवराज तो बिलकुल अधीर हो गए थे।

बीर०—यही लंकाके युवराज हैं?

ता०—हाँ, यही युवराज जयसेन हैं।

बीर०—युवराज! आप चिन्ता न करें। हम आपकी युवराज पद्वी दूर करके आपको लंकाका राजा बनावेंगे। कोई चिन्ताकी बात नहीं है।

जय०—मैं राज्य नहीं चाहता। मैं कुवेणीको चाहता हूँ।

बीर०—कुवेणी कौन?

[एकाएक विशालाक्षका प्रवेश।]

ता०—आपने कुवेणीका नाम नहीं सुना? वे लंकाकी रानी हैं।

बीर०—ओह! विजयसिंहकी—(इशारा करते हैं।)

ता०—हाँ! महाराज!

बीर०—विजयसिंहने तो नया विवाह किया है ।

ता०—किसके साथ ?

बीर०—पाण्डुराजकी कुमारीके साथ । बड़े ठाटवाटसे !

ता०—कुवेणीके साथ उनका ऐसा ही गभीर प्रेम है !

बीर०—अरे वह बड़ा नीच और पाखण्डी है ।

विशा०—सावधान ।

बीर—(चौंककर) तुम कौन हो ?

विशा०—मैंने शत्रुका विवर ढूँढ़ निकाला है । युवराज ! आप इस चक्रमें पड़कर मारे जायँगे । आपको यह कुमंत्रणा किसने दी ?

बीर०—तुम कौन हो ?

विशा०—मैं विजयसिंहका सेनापति विशालाक्ष हूँ ।

बीर०—इसे कैद कर लो ।

विशा०—(हँसकर) मुझे कैद करेंगे !

(विशालाक्षका तलवार निकालना । सब लोगोंका एक दूसरेका मुँह ताकना । विशालाक्षका धीरे धीरे चला जाना ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—बंगालके राजमहलका अन्तःपुर ।

समय—सवेरा ।

[विजयसिंह अकेले हैं ।]

विजय०—अबतक भी कुवेणीकी बातें याद आती हैं । वह अशान्त उद्दण्ड युवती—प्रातःकालके सूर्य्यके समान, पूरे खिले हुए स्थल-पद्मके समान । क्या मैं उसके साथ प्रेम करता हूँ ? अथवा मैं उससे डरता हूँ ? कुछ ठीक समझमें नहीं आता । जिस दिन मैं वहाँसे चला था उससे

पहलेवाली रातकी बात याद आती है। वह बढ़िया नाच और गाना। कैसी आश्चर्यजनक तैयारी थी! और वह सरला, मुग्धा, नीची निगाहों-वाली बालिका, लज्जावती लताके समान हवाके झोंकेसे सिमटी हुई।—दोनोंमें कितना अन्तर था!—लो, यह तो गुरुदेव आरहे हैं।

[बुद्धदेवके शिष्यका प्रवेश।]

शिष्य—विजयसिंह! अब तुम तैयार हो?

विजय०—जी हाँ गुरुदेव।

शिष्य—अच्छा विजयसिंह, जाओ, और सिंहलमें इस धर्म्मका प्रचार करो। महाराज बुद्धदेवने तुमको इसी कामका भार दिया है।

विजय०—जगद्गुरुकी इस आज्ञाको मैं शिरोधार्य्य करता हूँ।

शिष्य—तुम अशान्त हृदयसे पागलोंकी तरह इधर उधर फिरते रहे हो। सागर, बनों और नगरोंमें घूमे हो। अब कर्म्म करो, इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी।

विजय०—मुझे शान्ति मिलेगी? आप जानते हैं कि मुझे क्या दुःख है?

शिष्य—हाँ वत्स, मैं जानता हूँ। दुःखी लोगोंको सान्त्वना देनेके लिये ही यह धर्म है। जो लोग सुखी हैं, विलासमें मस्त हैं, ऐश्वर्यमें डूबे हुए हैं, पुत्र-कन्यारूप सम्पत्तिसे जो सम्पत्तिशाली हैं, जिनके शरीरमें बल, मनमें तेज और हृदयमें उल्लास है वे लोग धर्म्मकी इच्छा नहीं करते। जो लोग विपन्न और दुःखी हैं, जिन्हें दोनों समय पेटभर भोजन भी नहीं मिलता, संसारमें जिनका कोई नहीं है, अथवा जिनके कुछ लोग थे, पर चले गए, जो पीड़ित अथवा निस्तेज हैं, जिनकी आँखोंसे आँसुओंकी धाराएँ बहती हैं, उन्हींकी सान्त्वनाके लिये इस धर्मकी सृष्टि हुई है और वे ही लोग धर्म्मका मर्म समझते हैं।

विजय०—गुरुदेव, आप बहुत ठीक कहते हैं।

शिष्य—एक दिन यह धर्म सारे संसारमें फैल जायगा। क्योंकि इस संसारमें बहुतसे लोग दुःखी हैं। सुखी कितने हैं? और फिर सुख कब-तक ठहरता है? आतिशबाजीकी रोशनी बुझ जाती है, उत्सवकी हँसी थम जाती है, उल्लासका गीत आरम्भ होते ही चारों ओर हाहाकारमें बिखर जाता है। इस संसारमें अन्धकारका राज्य है, शून्यका विस्तार है, मरणका अवसाद है। स्तब्धताके साम्राज्यका कहीं अन्त नहीं है। इन सबके मध्यमें वत्स! यह प्रकाश, यह आशा, यह जीवन कितना है?

विजय०—बहुत ठीक महाराज!

शिष्य—जाओ वत्स, धर्म्मका प्रचार करो, यही तुम्हारा काम है। बंगालके बुद्धदेवके महान् धर्मके प्रथम प्रचारक बंगालके विजयसिंह हैं। इससे बढ़कर गौरवकी और कौनसी बात हो सकती है?

विजय०—जो आज्ञा, गुरुदेव। (प्रणाम करते हैं।)

(शिष्यका आशीर्वाद देकर गाते हुए प्रस्थान।)

विजय०—अच्छा, अब यही काम किया जाय।

[सुरमा और विजितका प्रवेश।]

सुर०—भइया! अब आप फिर सिंहलकी ओर जा रहे हैं?

विजय०—हाँ बहन! बुद्धदेवकी ऐसी ही आज्ञा है। जहाज भी तैयार है।

विजित—आप मुझे नहीं ले चलेंगे?

विजय०—ले जाऊँ भी तो कैसे ले जा सकता हूँ? और अब क्या मैं तुम्हें अच्छा लगूँगा?—क्यों क्या कहते हो विजित! अब तो एक नया मुख देखते देखते सवेरा हो जाया करेगा! अब संसारको कुछ रंजित और गम्भीरतायुक्त देखोगे।

सुर०—अब मैंने अपने शून्य जीवनमें एक कर्त्तव्य ढूँढ़ निकाला

है और वह है एक जनको सुखी करना, एक जनके पैरोंपर अपना भविष्यत् अविश्रान्त धारासे ढोलते रहना—और यदि हो सके तो—

विजय०—क्यों विजित ! कुछ सुनते हो ?

विजित—क्या ?

विजय०—यही ! वंशीकी ध्वनिके समान, कान ऊँचे करके सुन रहे हो न ! नई स्त्रीके कण्ठका स्वर बहुत ही मीठा होता है—विशेषतः उस समय जब कि वह कहती हो कि—"नाथ ! मैं संसारमें सबसे बढ़कर तुम्हीं को चाहती हूँ।"—यद्यपि नाथको छोड़कर संसारमें और किसीको देखा ही नहीं है।—भई यही तो—

सुर०—आप चाहे इन्हें संग ले जायँ और चाहे न ले जायँ लेकिन उसे तो ले जा रहे हैं ?

विजय०—किसको ?

सुर०—पाण्ड्य-राजकुमारीको।

विजय०—नहीं।

सुर०—यह क्यों ?

विजय०—उसे ले जाकर क्या करूँगा ?

सुर०—क्या करेंगे ! उस सरला विश्रब्धा किशोरीके साथ इसी लिये विवाह किया था कि उसे यहाँ छोड़कर आप परदेश चले जायँगे ?

विजय०—सुरमा ! मैंने उसके साथ विवाह किया था गुरुदेवकी आज्ञासे—सिंहलमें बौद्ध धर्मके प्रचारके उद्देश्यसे—

सुर०—वह क्यों कर ?

विजय०—गुरुदेवकी आज्ञा है कि मैं लंकाका राजा बनूँ और लंकाके राजा होनेके लिये राजकन्याके साथ विवाह करना चाहिए।

[सुमित्रका प्रवेश ।]

सुमित्र—भइया ! आपने मुझे बुलाया था ?

विजय०—हाँ भाई । मैं तुम्हें कोई स्त्री तो दे नहीं जा सका—वह तो तुम स्वयं देख-सुनकर ले लेना । लेकिन हाँ उससे भी बढ़कर मूल्य-वान् पदार्थ मैं तुम्हें दिए जाता हूँ । वह पदार्थ राज्य है और उसे स्वयं देख सुनकर प्राप्त करना जरा कठिन है । मैं तुम्हें बंग-राज्यका राजा बनाकर जाता हूँ ।

सुमित्र—अब आप फिर सिंहलकी ओर जायँगे ?

विजय०—इस बार मैं युद्ध करके देश जीतने नहीं जा रहा हूँ, बल्कि हृदयका राज्य जीतने जा रहा हूँ । मैं कुछ लेने नहीं बल्कि देने जा रहा हूँ ।

सुमित्र—क्या देने जा रहे हैं ?

विजय०—बौद्धधर्म । सुमित्र ! मैंने शत्रुके हाथसे इस देशका उद्धार करके इसे—माताको—तुम्हारे पास रक्खा है, द्वितीय इन्द्रकी तरह, विक्रम और रामचन्द्रकी तरह स्नेहसे इसका शासन करो । और—भइया !

सुमित्र—भइया !

विजय०—हम दोनों ही पिता-माता-हीन हैं । आओ एक बार चल-नेसे पहले तुम्हें अच्छी तरह गलेसे लगा लूँ । भइया ! भइया !

तीसरा दृश्य ।

स्थान—लंका ।

[कुवेणी और विशालाक्ष ।]

कुवे०—लंकाकी सेना विद्रोही हो गई है ? उसका नायक कौन है ?

विशा०—युवराज जयसेन ।

कुवे०—और प्रजा ?

कुवे०—और प्रजा ?

विशा०—वह भी इस विद्रोही सेनाके साथ मिल गई है। तरुण तापस मकरन्दने ही सबको उत्तेजित किया है।

कुवे०—विशालाक्ष! यह बात तो स्वप्नमें भी नहीं हो सकती थी! (गंभीर स्वरसे) तुमने मंत्रियोंको बुलाया था ?

विशा०—हाँ बुलाया था। वे भी इन शत्रुओंके ही साथ मिल गए हैं। इसी लिये वे लोग नहीं आए।

कुवे०—आश्चर्य्य! विशालाक्ष! मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया है ? जिससमय महाराज विजयसिंह यहा थे उस समय ये ही लोग भिखारी बनकर और हाथ फैलाकर मेरी कृपा चाहते थे। सेनापति! तुम भी उन विद्रोहियोंके साथ क्यों न मिल गए ?

विशा०—जबतक मेरे शरीरमें लहूकी एक बूँद भी रहेगी तबतक मैं वह लहू महारानीके कामके लिये ही गिराऊँगा।

कुवे०—सिंहलके पक्षमें कितनी सेना होगी ?

विशा०—सौसे कुछ ऊपर होगी।

कुवे०—बस इन्हीं सौ सिपाहियोंको लेकर तुम शत्रुके साथ युद्ध करोगे ?

विशा०—हाँ!

कुवे०—इससे लाभ क्या होगा ?

विशा०—इन्हीं एकसौ राजभक्त सैनिकोंको साथ लेकर मैं युद्धमें महारानीके लिये प्राण त्याग करूँगा। इससे बढ़कर और कोई आकांक्षा मेरे मनमें नहीं है।

कुवे०—सेनापति! क्या तुम सच कह रहे हो ?

विशा०—हाँ, इस बातके लिये ईश्वर मेरा साक्षी है।

कुवे०—विशालाक्ष ! वीर ! यह मोतियोंका हार लो । कृतघ्न महारानीकी यही आखिरी निशानी है । लो सिर झुकाकर इसे ग्रहण करो । लो वीर ! लंकाकी महारानीका दान लो । इसे तुच्छ न समझना । (हार देना) और अब लंकाका स्वर्ण-भाण्डार खोल दो । उसे लूटकर वे लोग अपने घर चले जायँ ।

विशा०—श्रीमती ! यह क्यों ?

कुवे०—चुप रहो । बोलो मत । नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा । अच्छा अब तुम जाओ !

विशा०—देवी !

कुवे०—(कठोर स्वरसे) जाओ । अबतक भी मैं रानी हूँ । मेरी आज्ञा मानो । वीरवर ! यह वृथा युद्ध क्यों हो ! तुम और वे एकसौ सैनिक मेरे पुत्र हैं । तुम लोग मुझे बचानेके लिये क्यों अपने प्राण दोगे ? कुछ भी हो, उन्हें भी अपना जीवन प्यारा होगा, वे लोग आज अपनी अपनी स्त्रीके अश्रुपूर्ण नेत्रोंको चुम्बन करके, सन्तानको स्नेहसे अपने गले लगाकर, मुझे बचानेके लिये कम्पित-चित्तसे व्यर्थ युद्ध करने जायँगे ।— इसे बचानेके लिये, जिसे कोई आशा नहीं रह गई, कोई आसक्ति नहीं रह गई, जिसका भविष्य इसी समुद्रके जलकी तरह श्मशान—उदास और विचित्रताहीन है—रावणकी चिताके समान जिसमें केवल धू धू शब्द सुनाई देता है । जाओ वीर ! मेरी सेनाको वापस बुला लो ।

विशा०—और तब—

कुवे०—और तब दुर्गका द्वार खोल दो । मैं अपने हाथसे अपना सिर काटकर अपनी सेनाको उपहार-स्वरूप दूँगी ।

विशा०—और यह सिंहल ?

कुवे०—रसातलमें जाय !

विशा०—सम्राज्ञी !

कुवे०—तुम भी मेरी बात नहीं मानते !—जाओ, अब मैं सोऊँगी।

(विशालाक्षका प्रस्थान ।)

कुवे०—(थोड़ी देरतक समुद्रकी ओर देखकर) इसी समुद्रपर हम दोनोंकी भेंट हुई थी !—इसी समुद्रपर ! लेकिन नहीं, फिर यह क्यों ? सब जाता है पर स्मृति क्यों नहीं जाती ? विधाता ! (इधर उधर टहलती है ।) यह क्या ! पृथ्वी इतनी स्तब्ध क्यों है ! ऊपर यह मलिन सूर्य्य, और यह आकाश एक नील मरुभूमिकी तरह विस्तृत है ! एक दिन वह था जब कि—फिर वही ध्यान ! जुमेलिया ! जुमेलिया !

[जुमेलियाका प्रवेश ।]

कुवे०—जुमेलिया ! शराब दो और नाचनेवालियोंको बुलाओ। हैं !—तुम मुँह क्यों ताकने लगीं ?

जुमे०—श्रीमती ! आप यह क्या कह रही हैं ! सामने युद्ध है और आप यह—

कुवे०— कहाँ है युद्ध ? मैंने कह दिया है कि दुर्गका द्वार खोल दो। लंकाके नए राजा आ रहे हैं। आज नए राजाकी अच्छी तरह अभ्यर्थना करूँगी जिसमें उन्हें कुछ शिकायत करनेकी जगह न रह जाय। जुमेलिया ! जाओ। हैं ! यह क्या ! तुम पत्थरकी मूरतकी तरह चुपचाप क्यों खड़ी हो ? जाओ, जुमेलिया ! हैं ! क्या आज लंकाकी महारानीको एक ही बातके लिये दो दो बार कहना पड़ेगा ? जाओ।

(जुमेलियाका प्रस्थान ।)

कुवे०—उन्हें भुला दूँगी। बिलकुल भुला दूँगी (छुरी निकालकर और उसे धीरेसे कलेजेपर रखकर) धार है ? लेकिन—यह तो आगई !—

[जुमेलिया मदिरापात्र लिए हुए आती है ।]

कुवे०—दो ! दो !—जल्दी दो ! (पीकर) नाचनेवालियाँ कहाँ हैं ?

जुमे०—आ रही हैं ।

[दूतके साथ विशालाक्षका प्रवेश ।]

कुवे०—क्या खबर है विशालाक्ष !

विशा०—शत्रुकी ओरसे यह दूत आया है ।

कुवे०—दुर्गका द्वार खोल दिया ?

विशा०—नहीं श्रीमती ! यह दूत—

कुवे०—दूतकी क्या जरूरत है ? मैं दूतकी बात सुननेके लिये यहाँ नहीं बैठी हूँ । जयसेनको निमंत्रित करके ले आओ । मैं उनके आसरे बैठी हूँ ।

विशा०—लेकिन श्रीमती ! पहले आप यह तो सुन लें कि जयसेनका क्या वक्तव्य है !

कुवे०—कुछ आवश्यकता नहीं ! अच्छा खैर ! कहो दूत, तुम क्या कहना चाहते हो ? जल्दी कहो !

दूत०—मैं केवल पत्रवाहक हूँ । (पत्र देता है ।)

कुवे०—(विशालाक्षके हाथमें पत्र देकर) विशालाक्ष इसे पढ़ो । जरा जोरसे पढ़ो ।

विशा०—(पत्र पढ़ता है)—“ विजयके हाथ बिकी हुई दासी ! जिस डाकूकी सहायतासे तुमने मेरे पिताकी हत्या करके लंकाके प्रासाद-पर अधिकार किया था वह डाकू विजय अब कहाँ है ? रानी ! अब तुम हार मानो । नहीं तो—”

कुवे०—बस, आगे पढ़नेकी जरूरत नहीं । इस पत्रपर किसके हस्ताक्षर हैं ?

विशा०—इसके नीचे लिखा है—" महाराज जयसेन " ।

कुवे०—(व्यंगसे) महाराज जयसेन ! दूत ! जयसेन महाराज कबसे हुए ?

दूत—मैं केवल पत्रवाहक हूँ ।

कुवे०—अच्छा, जाओ ।

दूत—इस पत्रका उत्तर ?

कुवे०—विशालाक्ष ! तुम जाओ और तलवारोंकी झनकारसे, भेरीके निर्घोषसे इस पत्रका उत्तर दो । मैं भी आती हूँ ।

विशा०—जय ! लंकाकी महारानीकी जय !

(दूतके साथ विशालाक्षका प्रस्थान ।)

कुवे०—उसकी इतनी मजाल ! जुमेलिया ! वही बेचारा मांसपिण्ड जयसेन—जो बिना घुटने टेके मुझसे बात नहीं करता था—लो, सुनो ! रण-सिंगा बज रहा है । जुमेलिया ! मैं मरूँगी, युद्धमें लड़कर मरूँगी; पर पराजय स्वीकार न करूँगी । बुलाओ, मेरी हजार पार्श्वरक्षिणियोंको बुलाओ । उन लोगोंने तो अभी मुझे नहीं छोड़ा है ! ये सब चीजें उठाकर फेंक दो । (मदिरापात्र तोड़कर फेंक देना ।) जुमेलिया !

जुमे०—महारानी !—

कुवे०—मेरा वर्म्म चर्म्म और तलवार ले आओ । और सुनो, जुमेलिया ! तुम भी लड़ाईका बाना धारण करो । कर सकोगी ? नहीं, रहने दो । कोई जरूरत नहीं है । तुम क्यों मरने जाओगी ? तुमने तो—(प्रस्थान ।)

चौथा दृश्य ।

स्थान—लंका ।

[जयसेन, तापस, कुवेणी, उत्पलवर्ण विशालाक्ष और जुमेलिया ।]

तापस—अब धीरे धीरे कुछ ज्ञान हो रहा है ।

कुवे०—विजय ! विजय ! यह क्या ! मैं कहाँ हूँ ?

उत्प०—श्रीमती ! आप अपने महलमें हैं ।

कुवे०—यह क्या ! मेरे हाथ क्यों बँधे हैं ! जुमेलिया ! (उठनेकी चेष्टा करती है ।)

जुमे०—श्रीमती, आप स्थिर हों । मैं आपको उठा देती हूँ । (धीरेसे उठा देना ।)

कुवे०—ये लोग कौन हैं ? यह तो जयसेन है ! तुम जयसेन हो न ?

विशा०—धीरे धीरे स्मृति हो रही है ।

कुवे०—यह क्या ! मेरे हाथ क्यों बँधे हैं ?

जय०—तुम मेरी कैदमें हो ।

कुवे०—मैं तुम्हारी कैदमें हूँ ! क्यों जयसेन ?

विशा०—महारानी ! हम लोग युद्धमें हार गए ।

कुवे०—हार गए ? युद्धमें ? किसके साथ किसका युद्ध हुआ था ?—ओह ! अब याद आया । तो क्या वह सब स्वप्न था ! (विशालाक्षसे) सेनापति ! अबतक मैं कहाँ थी ?

विशा०—आप रणभूमिमें मूर्च्छित थीं ।

कुवे०—तो क्या वह सब स्वप्न था ?

उत्प०—महारानी ! क्या स्वप्न था ?

कुवे०—मैंने देखा था कि मैं अन्धेरेमें समुद्रकी एक ऊँची तरंगपर

बैठी हुई हूँ, उसके नीचे नाग अपना फन फैलाए हुए है, और दूरसे एक स्वर्ण-किरणने आकर उस सारे दृश्यको उज्ज्वल कर दिया है। समुद्र धमारके तालमें बज उठा, ऊपरसे कोई भूपाली रागिनी गाने लगा– क्या वह सब स्वप्न था ?

उत्प०—इसके बाद क्या हुआ ?

कुवे०—इसके बाद वह स्वर्ण-किरण उसी समुद्रके जलमें डूब गई। फिर घोर अन्धकार छा गया। पीछेसे एक बहुत बड़ी लहरने आकर मुझे धक्का दिया और समुद्रमें गिरा दिया। इसके बाद मेरे विजय भेरी बजाते और पीला निशान उड़ाते हुए उसी समुद्रपरसे आ गए। मैंने हाथ बढ़ाकर पुकारा—विजय !–विजयने भी हाथ बढ़ाया; पर वे मुझे पकड़ न सके। मैं डूब गई। जलमें भी मुझे वह भेरीकी ध्वनि सुनाई पड़ती थी। मैंने जलमें से ही पुकारा—विजय !—एक बुलबुला उठा। क्या वह सब स्वप्न था ?—यह क्या ? पुरोहितजी ! आपने आँखें क्यों बन्द कर लीं ?

उत्प०—विजयसिंह आवेंगे।

कुवे०—(खड़ी होकर) आवेंगे ? आवेंगे ? कब आवेंगे ?

उत्प०—बहुत देर करके महारानी !

कुवे०—चाहे जितनी देर हो हर्ज नहीं।—पर आवेंगे तो सही ! अब कोई दुःख नहीं है। मेरे हाथ खोल दो। उनके आते ही मैं खूब कसकर उनके पैर पकड़ लूँगी।—छोड़ूँगी नहीं। पुरोहितजी ! मेरे हाथ खोल दीजिए।

जय०—(सिपाहीसे) हाथ खोल दो।

कुवे०—अब लंकाके महाराज तुम हुए हो ?

जय०—हाँ, हम महाराज हैं।

कुवे०—यह सिंहासन तुम्हारा है, ये नगरनिवासी सब तुम्हारे हैं, यह लंकाका अगाध धन और रत्न सब तुम्हारा है । यह सब कुछ तुम लो । केवल विजय मेरे रहें, मैं—

जय०—सुन्दरी ! तुम्हारे विजयसिंह कहाँ हैं ? जिस पतिने दस-पाँच दिनतक भोग करके उच्छिष्टकी तरह तुम्हें रास्तेमें छोड़ दिया—

कुवे०—यदि मैंने उन्हें पाया था तो भी वह देवताका वर था और यदि मैंने उन्हें खो दिया तो भी देवताका वर ही है । पूर्वजन्मके पुण्यके फलसे मैंने उन्हें पाया था और पूर्वजन्मके पापके फलसे उन्हें खो दिया । अब फिर यदि वही वीर, वही राजाधिराज, वही देवता !—

जय०—वही देशनिर्वासित, वही मारा मारा फिरनेवाला युवक, वही अधमाधम डाकू—

कुवे०—जयसेन ! डाकू तुम हो । बंगालके विजयसिंहने दूसरे रामचन्द्रकी तरह आकर सिंहल जीता था । और तुम छलसे मेरी ही प्रजा और मेरे ही भृत्योंके हीन षड्यंत्रके बलसे लंकापर अधिकार करके इतनी डींग हाँकते हो !

जय०—जानती हो, यदि मैं चाहूँ तो अभी तुम्हारी इस तेज जबानका चलना बन्द कर सकता हूँ ।

कुवे०—जयसेन ! मैं जानती हूँ । जिस समय शेर जंजीरोंसे बँधा रहता है, उस समय तुच्छ कुत्ता भी आकर उसे लात मारकर चला जाता है । लेकिन फिर भी शेर सदा शेर ही रहता है और कुत्ता—कुत्ता ही रहता है । जिस समय सूर्य्य अस्त हो जाता है उस समय गीदड़ आनन्दसे चिल्लाने लगते हैं । महाध्वंसके ऊपर छत्रक (कुकरमुत्ते) उगते हैं । जयसेन ! इसमें अभिमान करनेकी कोई बात नहीं है ।

जयसेन—मुझे महाराज कहो ।

कुवे०—महाराज!—आश्चर्य! लंकाके महाराज और जयसेन! अच्छा जयसेन! जरा तुम एक बार उस सिंहासनपर तो बैठो, जिसपर महाराज विजयसिंह बैठा करते थे। देखूँ तो सही कि तुम कैसे मालूम होते हो! और मेरे ये कृतघ्न सेवक लोग एक बार चिल्लाकर कहें—"जय! लंकाके नए महाराज जयसेनकी जय!" देखूँ वह जयनाद सुननेमें कैसा मालूम होता है। चलो सिंहासनपर बैठो तो सही।

जय०—इसके लिये तुम्हारी आज्ञाकी आवश्यकता नहीं है।

कुवे०—मैं तुम्हारे साथ व्यर्थ बातें नहीं करना चाहती। मैं इस समय तुम्हारी कैदमें हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।

जय०—कुवेणी! मैं तुम्हारा अपमान करनेके लिये यहाँ नहीं आया हूँ। तुम जिस तरह पहले महारानी थीं उसी तरह अब भी महारानी रहोगी।

कुवे०—मैं तुम्हारे दिए हुए महारानी पद पर लात मारती हूँ।

जय०—तुम हमारी महारानी होगी।

कुवे०—तुम्हारी महारानी होऊँगी? क्या मैं यह ठीक सुन रही हूँ? जयसेन! क्या तुम यही कह रहे हो कि तुम महाराज और मैं महारानी! यह तो खूब दिल्लगी है! ये क्षुद्र आँखें, यह संकीर्ण ललाट, इस वामनके पास और यह कुवेणी बैठेगी! जयसेन!—तुमने कभी शीशेमें अपनी शकल भी देखी है?

जय०—इतना घमण्ड! अच्छा अब मैं तुम्हारा यह घमण्ड तोड़ दूँगा। तुम्हारा भोग करके, तुम्हारा सौन्दर्य्य बिगाड़ डालूँगा। और तब उस उच्छिष्टको रास्तेके कीचड़में फेंक दूँगा।

कुवे०—जयसेन! यह युद्ध जीतकर तुम्हारा इतना बड़ा हौसला हो गया है कि मुझे अपने सामने देखकर भी तुम इस तरहकी बातें सोचते हो?

जय०—मैं सिर्फ ऐसी बातें सोच ही नहीं सकता बल्कि तुम्हें दिखला सकता हूँ कि—

कुवे०—खबरदार!

जय०—क्यों, तुम क्या करोगी? यदि मैं इसी समय—

कुवे०—देखूँ, तुम मुझे हाथ लगाओ तो सही।

जय०—तुम क्या करोगी? बँधे हुए हाथ सिर्फ भिक्षा माँगते हैं। क्या करोगी? यदि—

कुवे०—मैं नहीं जानती कि क्या करूँगी—मैं नहीं जानती कि क्या होगा? लेकिन इतना जानती हूँ कि कुछ जरूर होगा। मैं इतना अवश्य जानती हूँ कि इतनी बड़ी नियमविरुद्ध बात, शृंखलाका इतना व्यतिक्रम न कभी हुआ—न होगा और न हो सकता है। जयसेन! जरा तुम एकबार मुझे हाथ लगाकर देखो तो सही।

जय०—लो देखो (आगे बढ़ना)

विशा०—(सामने आकर) खबरदार महाराज!

जय०—(चौंककर) तुम कौन हो?

विशा०—यदि आप कुभावसे लंकाकी महारानीको हाथ भी लगावेंगे तो अभी नया युद्ध आरम्भ हो जायगा।

जय०—तुम पागल हो!

विशा०—पागल नहीं हूँ। फिर कहता हूँ—खबरदार!

जय०—हट जाओ। (तलवार निकालना)

विशा०—महाराज, मैं हथियारसे नहीं डरता। फिर कहता हूँ—खबरदार!

जय०—जाओ, मैं ऐसे कीड़े-मकोड़ोंको नहीं मारता।

बिशा०—(घुटने टेककर) हे आदि-शक्ति! माता! आज मुझे वही शक्ति दो जिससे कैदीकी जंजीरें खुलकर गिर पड़ें—अत्याचार

बेचारा काँपने लगे। माता! एकबार वही शक्ति दो। देखूँ (जयसेन और कुवेणीके बीचमें आकर) महाराज! अब मैं आखिरीबार कहता हूँ—खबरदार!

जय०—अच्छा, अगर तुम मरना ही चाहते हो तो मरो। (अस्त्राघात।)

विशा०—अच्छा महाराज! अब दैव शक्ति देखिए। (जयसेन-का गला पकड़कर उनके हाथसे तलवार छीन लेना और स्वयं तलवार उठाना) महाराज देखिए दैवशक्ति!

जय०—सैनिको! हथियार निकालो।

(सैनिकोंका तलवारें निकालना।)

जुमे०—(अचानक आगे बढ़कर) ठहर जाओ सिपाहियो! तुम लोगोंके सेनापति जयसेन आज लंकाके महाराज हुए हैं। तुम उन्हें सिंहासनपर बैठाकर उनके चारों ओर खड़े होकर जयध्वनि करो। लंकाकी महारानीसे तुम लोगोंका क्या मतलब? इनको छोड़ दो। जरा एक बार देखो—ये कनक-लंकाकी महारानी हैं। अच्छी तरह देख लो, तुम लोग एक दिन जिसकी आज्ञाका पालन सिर झुकाकर करते थे वही महामहिमा आज धूलमें मिल गई! क्या तुम लोगोंको दया नहीं आती? क्या तुम लोग मनुष्य नहीं हो?

कुवे०—जुमेलिया! इन कृतघ्न पामर सैनिकोंसे कृपा-भिक्षा करते तुम्हें लज्जा नहीं आती? मैं किसीकी कृपा नहीं चाहती, पर हाँ जय-सेन, एक भिक्षा चाहती हूँ।—वह भिक्षा जिसके लिये किसी स्त्रीको लज्जा नहीं हो सकती। मेरी जान लो पर इज्जत मत लो।

जय०—कुवेणी! अब तुम मुक्त हो। तुम जिसतरह पहले लंकाकी महारानी थीं उसी तरह अब भी हो। तुम लंकाकी जननी हो, मेरी भी जननी हो। सैनिको! कहो—"लंकाकी महारानीकी जय!"

सैनिक—लंकाकी महारानीकी जय !

मकन्रद—(बगलसे कटार निकालकर और कुवेणीके कलेजेमें मारकर) जय !

जय०—तापस ! यह तुमने क्या किया ?

मक०—जिस स्त्रीने मनुष्यके साथ विवाह करके यक्ष-राजवंशके पुराने शुभ्र इतिहासको कालिमा लगाई और यक्षोंको मनुष्योंसे पददलित कराया उसके लिये यही उचित दण्ड है ।

जय०—इस तापसको मार डालो ।

मक०—जयसेनको मार डालो ।

पिशा०—जो होना हो सो हो । (मकरन्द पर आक्रमण करना ।)

मक०—मेरा काम हो गया । (कटार फेंक देना और गिर पड़ना ।)

(सैनिकोंका विशालाक्षके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार होना ।
जयसेनका सैनिकोंके साथ लड़नेके लिये तैयार होना ।)

कुवे०—जुमेलिया ! उनके साथ तो भेंट नहीं हुई ?

[बुद्धशिष्यके साथ विजयसिंहका प्रवेश ।]

विजय०—शान्त हो !

उत्प०—महाराज विजयसिंह आगए ।

कुवे०—आगए ! आगए ! विजय ! विजय ! (दो तीन बार उठनेकी चेष्टा करना पर अन्तमें गिर पड़ना ।)

विजय०—कुवेणी ! कुवेणी !

जुमे०—महाराज ! अब कुवेणी कुछ भी नहीं सुन सकती ।

विशा०—महाराज ! अपने बड़ी देर की ! (पैर पकड़कर रोना ।)

उत्प०—आप पूर्वजन्ममें भी इसीप्रकार आए थे । परन्तु उसबार आपने इतनी देर नहीं की थी ! लंकाके सैनिको ! उत्सव करो ! उत्सव करो ! बंगालके महाराज विजयसिंह भारतका बौद्धधर्म सिंहलमें लाए हैं ।

विजय—

बंगदेशके नाहिं विजय सब जगके प्रियतम ।
केवल भारतके न विश्व भरके हैं गौतम ॥
लखो अहिंसा-रूप मोक्ष-सोपान मनोहर ।
दुःख मृत्युको भोग भयो पूरो याहि भू पर ॥
सुख, माया दुख भ्रांति है, नित्य मोक्ष औ शांति है ।
लंकावासी लेहु सब, शुभ तुम्हरो सब भाँति है ॥

समाप्त ।

परिशिष्ट ।

[चतुर्थ अङ्कके अष्टम दृश्यके प्रारंभमें यह गज़ल भी पढ़ी जा सकती है। इसके रचयिता श्रीयुत पं० रामचरितजी उपाध्याय हैं ।]

चलो प्यारे ! छने मदिरा, तृषा व्याकुल न कर पावे ।
हृदयका रक्त जलता है, तरावट उसमें भर जावे ॥
वसन्ती वायु सुरभित है, चपल चामर डुलाऊँ मैं ।
ललित मुरली मृदङ्गादिक, नन्दन-वन-गेह बज जावे ॥
विमोहित हो उठें परियाँ, करें फिर नृत्य मदमाती ।
कँपाकर विश्वको गाओ, मदन शर उरमें विध जावे ॥

[पञ्चम अङ्कके अन्तमें पं० रामचरितजीकृत यह छप्पय भी पढ़ा जा सकता है।]

बंगदेशके हैं न विजय, हैं निखिल जगतके,
भारतके ही हैं न बुद्ध, हैं अखिल जगतके ।
देखो हिंसा-हीन मोक्ष-सोपान यही है,
मृत्यु और दुखराज आज अवसान सही है ॥
करते हैं हम दानको, सुख माया दुख भ्रान्तिके ।
लंकावासी! लीजिए, नित्य मुक्तिके शान्तिके ॥

[चतुर्थ अङ्कके दृश्यान्तर (पृष्ठ १८१) में जो गीत विजयसिंहके साथियोंने गाया है, उसके प्रारंभके निम्न लिखित चार चरण छपनेसे रह गये हैं, पाठक इन्हें उसमें जोड़कर पढ़नेकी कृपा करें ।]

जातीय गीत ।

जिस दिन नील जलधिसे तू मा भरतभूमि उत्पन्न हुई,
उस दिन जगमें वर कलरवके सहित भक्ति औ खुशी हुई ।
तेरी धुनिसे हुआ सवेरा जगकी टली अँधेरी रात्रि,
सबने स्तवन किया तब जननी, जय जगतारिणि जय जगधात्रि ॥

हिन्दीमें उच्चश्रेणीका नाटक-साहित्य ।

हिन्दीमें रंगभूमि पर खेलनेयोग्य नाटकोंका, विशेष करके उच्च श्रेणीके प्रभावशाली नाटकोंका, एक तरहसे अभाव हो रहा है । इस विषयके प्रतिभाशाली लेखक और लेखकोंको उत्साहित करनेवाली नाटक-कम्पनियाँ भी हिन्दी-संसारमें नहीं हैं, जिससे इस बातकी आशा की जा सके कि हिन्दीके इस विभागकी सन्तोषजनक पूर्ति शीघ्र ही हो सकेगी । यह देख कर हमने दूसरी भाषाओंके उच्च श्रेणीके नाटकोंके हिन्दी अनुवाद या रूपान्तर प्रकाशित करनेका निश्चय किया है । ये अनुवाद या रूपान्तर ऐसे होंगे, जिन्हें पढ़ने या खेलनेमें आपको स्वतंत्र नाटकोंका भ्रम होगा और इनके द्वारा आपको आनन्द भी स्वतंत्र-नाटकोंके ही समान प्राप्त होगा ।

सबसे पहले हमने बंगालके सर्वोच्च नाटक-लेखक और कविश्रेष्ठ **स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय**के नाटकोंको प्रकाशित करनेका प्रारंभ किया है । नाट्य-साहित्यके मर्मज्ञोंका कथन है कि इस देशकी किसी भी जीवित भाषाके लेखकोंमें द्विजेन्द्र बाबूकी जोड़का नाटक-लेखक नहीं हुआ । उनकी प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण और विचित्र रसमयी थी । वे बड़े ही उदार और देशभक्त लेखक थे । उनके नाटक दर्शकों और पाठकोंको इस मर्त्यलोकसे उठा कर स्वर्गीय और पवित्र भावोंके किसी अचिन्त्य प्रदेशमें ले जाते हैं । उनके नाटक पवित्रता, उदारता, देशभक्ति और स्वार्थत्यागके भावोंसे भरे हुए हैं । उन्मादक शृंगार और हावभावोंकी उनमें गन्ध भी नहीं । द्विजेन्द्र बाबू हास्यरसके और व्यंग-कविताके भी सिद्धहस्त लेखक थे । अतएव उनके नाटकोंमें इसकी भी कमी नहीं । उनके उज्ज्वल और निर्मल हास्य-विनोदको पढ़ कर—जिसमें अश्लीलताकी या भण्डताकी एक छींट भी नहीं—आप लोट पोट हो जायँगे । द्विजेन्द्र बाबूके नाटक इस प्रकारके भावों और विचारोंके भाण्डार हैं, जिनके प्रचारकी इस समय इस देशमें बहुत बड़ी आवश्यकता है ।

बंगलाके नाटक-साहित्यमें द्विजेन्द्र बाबूका आसन जगत्प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरसे भी कई बातोंमें ऊँचा समझा जाता है । स्वयं रवीन्द्र बाबू भी

द्विजेन्द्रकी रचनाओं पर मुग्ध हैं। वे बड़े ही निपुण और सूक्ष्मदर्शी समालोचक हैं। उन्होंने ' मन्द्रकाव्य ' की समालोचनामें द्विजेन्द्र बाबूकी मौलिकता और अलौकिक प्रतिभाकी जिस प्रकार अकपट और असंकोच प्रशंसा की है, कहते हैं, कि उनके द्वारा इतनी अधिक ऊँची प्रशंसा बंगसाहित्यमें अब तक और किसी भी कविने प्राप्त नहीं की। सुप्रसिद्ध कवि और समालोचक श्रीयुत देवकुमार राय चौधरी लिखते हैं—

" बंगालमें ऐसा कोई भी कवि नहीं हुआ जो हँसीके गानोंमें, नाट्यसाहित्यमें, व्यंग-कवितामें और जातीय भावोंके जीवित करनेमें द्विजेन्द्रकी बराबरी कर सके। उनकी रचना कवित्वसे कमनीय, मौलिकतासे उज्ज्वल, विशुद्ध रुचिपरायणतासे मनोज्ञ और सद्भावोंसे परिपूर्ण है। वे एक साथ कवि, परिहासरसिक, दार्शनिक, समालोचक, प्रबन्धलेखक और नाट्यकार थे। "

मार्मिक लेखक श्रीयुत सौरीन्द्रमोहन मुखोपाध्याय लिखते हैं—

" बंगला नाटकोंमें कल्पनाकी ऐसी लीला द्विजेन्द्रलालके पहलेका कोई भी नाट्यकार अपने नाटकोंमें नहीं दिखा सका है।...उनके नाटक उच्चभाव, कवित्व और स्वदेशप्रेमके स्निग्ध रश्मिपातसे उज्ज्वल हो रहे हैं। "

' द्विजेन्द्रलाल ' नामक ग्रन्थके लेखक श्रीयुत बाबू नवकृष्ण घोष लिखते हैं—

' द्विजेन्द्रलालके नाटकोंने नाट्यसाहित्यमें उन्नत और विशुद्ध रुचिका स्रोत प्रवाहित करके और नवीन तथा आगामी होनेवाले नाटक-लेखकोंको अनुकरणीय उच्च आदर्श दान करके बंगलाके नाट्यसाहित्यको स्थायी उच्चसाहित्यकी पदवी पर पहुँचानेमें बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई है। द्विजेन्द्रके उच्चश्रेणीके नाटकोंका अभिनय करके बंगालके थियेटरोंने शिक्षित समाजमें जो आदर पाया है, वैसा इसके पहले कभी नहीं पाया था। "

इन सब वचनोंसे पाठक जान सकते हैं कि द्विजेन्द्रलाल किस श्रेणीके नाटककार थे और उनके ऐसे अच्छे नाटक-रत्नोंसे हिन्दी भाषाको आभूषित करनेकी कितनी बड़ी आवश्यकता है।

अबतक हमें द्विजेन्द्र बाबूके ११ नाटक प्रकाशित कर चुके हैं। शेष नाटक भी शीघ्र छपेंगे। अनुवाद बहुत ही सावधानीसे कराये जाते हैं। उनका मूलसे

मिलान करके संशोधन भी किया जाता है। इसके सिवाय प्रायः प्रत्येक नाटकमें एक भूमिका रहती है जिसमें उस नाटकके गुणदोषोंकी विस्तृत आलोचना रहती है। ये आलोचनायें बड़ी महत्त्वकी रहती हैं और इस विषयके मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा लिखी हुई होती हैं। जो लोग नाटक लिखनेकी कलाका अभ्यास करना चाहते हैं उनके लिए तो ये बहुत ही उपयोगिनी होती हैं।

नीचे लिखे नाटक छप चुके हैं:—

ऐतिहासिक।

दुर्गादास मू० १)
शाहजहाँ ॥।≈)
नूरजहाँ १)
मेवाड़-पतन ॥।≈)
ताराबाई (पद्य) १)
चन्द्रगुप्त १)
सिंहल-विजय १≈)

पौराणिक।

सीता मू० ॥-)
भीष्म १≈)
पाषाणी ॥≈)

सामाजिक।

उसपार मू० १)
भारत-रमणी ॥।≈)
सूमके घर धूम ≡)

हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर-सीरीज—नामकी ग्रन्थमाला हमारे यहाँसे निकलती है। इसमें उच्च श्रेणीके उत्तमोत्तम ग्रन्थ निकलते हैं। अबतक ४० ग्रन्थ निकल चुके हैं। और भी बहुतसे ग्रन्थ हमने प्रकाशित किये हैं। सूचीपत्र मँगाकर देखिए।

मैनेजर, **हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो० गिरगाँव—**बम्बई।**